श्रीमद्भगवद्गीता और भगवद्दर्शन

GLOBAL SANSKRIT FORUM
वैश्विक संस्कृत मञ्च
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्

प्रधान संपादक
प्रो. दयाशंकर तिवारी, प्रो. जवाहरलाल
संपादक
डॉ. राजेश कुमार मिश्र
सह-संपादक
डॉ. कल्पना शर्मा, डॉ. सुचित्रा भारती

वैश्विक संस्कृत मञ्च की प्रस्तुति

श्रीमद्भगवद्गीता और भगवद्दर्शन

अमृतब्रह्म प्रकाशन
Amritbrahma Prakashan
प्रयागराज

श्रीमद्भगवद्गीता और भगवद्दर्शन

प्रधान सम्पादक

प्रो. दयाशंकर तिवारी

प्रो. जवाहरलाल

सम्पादक

डॉ. राजेश कुमार मिश्र

सह-सम्पादक

डॉ. कल्पना शर्मा, डॉ. सुचित्रा भारती

प्रकाशक

अमृतब्रह्म प्रकाशन

प्रयागराज

ISBN: 978-81-982453-0-4

प्रकाशक

अमृतब्रह्म प्रकाशन

63/59, मोरी, दारागंज, प्रयागराज – 211006

सम्पर्क +91-9450407739, 8840451764

Email: amritbrahmaprakashan@gmail.com

श्रीमद्भगवद्गीता और भगवद्दर्शन

प्रधान सम्पादक

प्रो. दयाशंकर तिवारी

प्रो. जवाहरलाल

सम्पादक

डॉ. राजेश कुमार मिश्र

सह-सम्पादक

डॉ. कल्पना शर्मा, डॉ. सुचित्रा भारती

© ग्लोबल संस्कृत फोरम्, नई दिल्ली

प्रथम संस्करण : 2025

मूल्य : 900/-

The responsibility for facts stated, opinion expressed or conclusion reached and plagiarism, if any, in this book is entirely that of Author. The publisher/Editors/Editorial Board bears no responsibility for them whatsoever.

Infinity Imaging Systems

नई दिल्ली

संस्कृत विभाग
DEPARTMENT OF SANSKRIT
दिल्ली विश्वविद्यालय
UNIVERSITY OF DELHI
दिल्ली -110007
DELHI-110007

प्रो. दयाशंकरतिवारी
Prof. Daya Shankar Tiwary

Mob. 9810781398
Web-site - sanskrit.du.ac.in
E-mail – docdstiwari@yahoo.com

प्रधान सम्पादकीय

संस्कृत वाङ्मय में श्रीमद्भगवद्गीता और भगवद्दर्शन पर आधारित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यह पुस्तक वैश्विक संस्कृत मञ्च, दिल्ली द्वारा आयोजित अन्ताराष्ट्रिय संगोष्ठी में प्रस्तुत किये गये शोधपत्रों का संकलन है। मैंने प्रस्तुत पुस्तक में संकलित सभी शोधपत्रों का आद्योपान्त सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकनकिया है ।इनमें कुछ शोधपत्रप्राच्यविद्या 'योग' के गूढ़रहस्योंका उद्घाटन करते हैं,कुछ आयुर्वेदशास्त्र की उपादेयता पर भी प्रकाश डालते हैं ।इन शोधपत्रों में वर्णित विषयवस्तु की प्रामाणिकता के लिए प्रत्येक पृष्ठ के अन्त में सन्दर्भ दिये गये हैं। गीतामें वर्णित विभिन्न विषय जो ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के साथ-साथ जीवन प्रबन्धन का दार्शनिक दृष्टिकोण से विवेचन करते हैं; उन सभी आयामों का इसमें समावेश किया गया है। भारतीय ज्ञान परम्परा के सर्वमान्य ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' के उपदेश सामाजिक दृष्टिकोण से अत्यन्त प्रासंगिक हैं। इसमें आनन्द कंद नटवर नन्द कहते हैं कि जो सभी जीवों के

कल्याण में सतत् प्रयत्नशील हैं, वे मुझे प्रिय हैं–**"सर्वभूतहिते रताः"**(गीता - 5/25)। श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्य के जीवन में आने वाली प्रत्येक समस्या का तार्किक ढंग से समाधान प्रस्तुत करती है ।आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान, कला, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में अध्ययन करने वाले छात्रों एवं शोधार्थियों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी ।

प्रो. दया शंकर तिवारी
आचार्य, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय एवं
अध्यक्ष, ग्लोबलसंस्कृतफोरम
दिल्लीप्रान्त

प्रधान सम्पादकीय

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि भगवती जगदम्बा की असीम कृपा से वैश्विक संस्कृत मञ्च द्वारा संस्कृत के प्रचार प्रसार की इस श्रृखला में श्रीमद्भगवद्गीता और भगवद्दर्शन का नवीन पुस्तक प्रकाशित हो रहा है। वर्तमान में वैश्विक संस्कृत मञ्च संस्कृत के प्रचार प्रसार में की दिशा में उत्तरोत्तर आगे बढ रहा है। विविध प्रकार के शैक्षणिक गतिविधियों, संगोष्ठियों, वेवीनार, व्याख्यानमालाओं एवं समय-समय पर आयोजित होने वाली विविध कक्षाओं के माध्यम से न केवल संस्कृत साहित्य के विकास में अपितु भारतीय संस्कृति, प्राचीन भारतीय ज्ञानपरम्परा, शास्त्रसंरक्षण के संवर्धन, सम्पोषण में निरन्तर कार्य कर रहा है। देश के अनेकों प्रान्तों में संस्कृत का विस्तार के साथ संस्कृत अध्येता छात्र छात्राओं के सृजनात्मकता का विकास के लिये साहित्य सृजन की परम्परा को प्रोत्साहित करने में वैश्विक संस्कृत मञ्च का अत्यन्त उत्कृष्ट योगदान के रूप में यह ग्रन्थ नवनवोन्मेष शाली नई प्रतिभाओं को आगे लाने में इस प्रकार के साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस ग्रन्थ में विविध विषयों के विशेषज्ञों के आलेख न केवल छात्र छात्राओं को अपितु सुधी जनों के लिये भी अत्यन्त प्रेरणास्पद होंगे। वैश्विक संस्कृत मञ्च निरन्तर इस प्रकार के साहित्य सृजन के माध्यम से, संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, व्याख्यान मालाओं के माध्यम से देश विदेश में संस्कृत योगक्षेम के लिए काम करता रहेगा ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

श्रीमद्भगवद्गीता एवं भगवद्दर्शन नामक इस कृति में श्रीमद्भगवद्गीता के विविध पक्षों के आधार पर विद्वानों के अत्यन्त

चिन्तनपूर्ण आलेख हैं। साथ ही श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित विविध विषयों का अन्यान्य शास्त्रों के साथ तुलनात्मक विचार भी विद्वानें ने अपने आलेख के माध्यम से प्रस्तुत किया है। आज के परिप्रेक्ष्य में शास्त्र क्यों उपादेय है इत्यादि विषयों पर भी विद्वानों द्वारा अपनी लेखनी के माध्यम से प्रकाश डाला गया है। श्रीमद्भगवद्गीता क्यों आज न केवल भातवर्ष में अपितु सम्पूर्ण विश्व में सर्वश्रेष्ठ शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है इत्यादि विषयों की झांकी हम इस श्रामद्भगवद्गीता एवं भगवद्दर्शन नामक ग्रन्थ में देख सकते हैं। इस् प्रकार यह रचना शास्त्र तथा लोक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी ऐसी आशा करता हूँ।

प्रो. जवाहरलाल
आचार्य,सर्वदर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

संपादकीय

'भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा' संस्कृत के क्षेत्र में कार्य करना यज्ञ करने के समकक्ष है। विद्वानों के प्रति आभार ज्ञापित करते हुए पुलकित हृदय से यज्ञ की सम्पन्नता का फल यह पुस्तक संस्कृत समाराधकों को समर्पित कर रहा हूँ।

"श्रीमद्भगवद्गीता और भगवद्दर्शन" इस विषय पर सर्वदर्शन, विभाग श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय एवं ग्लोबल संस्कृत फोरम दिल्ली प्रान्त के संयुक्त तत्त्वावधान में, 14 अक्टूबर 2024, को एक दिवसीय अन्ताराष्ट्रिय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संस्कृत प्रेमियों के लिए यह हर्ष का विषय है कि देश-विदेश से प्रतिष्ठित विद्वानों ने इसमें प्रतिभाग लिया। उनके द्वारा प्रस्तुत शोध-पत्रों का यह संकलन पुस्तक रूप में हमारे समक्ष है। इस पुस्तक में संस्कृत साहित्य के विविध पहलुओं पर बहुमूल्य लेख, शोधपत्र और विचार संकलित हैं। शोधपत्र अंग्रेजी, हिंदी और संस्कृत में लिखे गए हैं तथा इनमें प्रख्यात विद्वानों का योगदान है। संगोष्ठी ऑनलाईन तथा ऑफलाईन दोनों माध्यमों से सम्पन्न हुई। संगोष्ठी में उपस्थित देश से आए हुए विद्वानों ने दोनों ही प्रकार से शोध पत्र प्रस्तुत किया अपने अद्भुत अनमोल अद्वितीय विचारों को अभिव्यक्त किया। देश- विदेश के प्रतिष्ठित शैक्षणिक संस्थानों से विद्वानों ने इसमें उत्साह से प्रतिभाग लिया। सभी के वैचारिक तथ्यों का संकलन इस पुस्तक के माध्यम से आज हमारे समक्ष है यह अत्यंत हर्ष की बात है कि यह संगोष्ठी केवल वाचिक प्रस्तुति न रही अपितु

पुस्तकाकार में हमारे समक्ष है। आशा है कि यह कृति युवा विद्वानों को गहन शोध के लिए अभिरुचि विकसित करने के लिए प्रेरित करेगी।

डॉ. राजेश कुमार मिश्र
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
नव नालन्दा महाविहार

संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार

विषयानुक्रमणिका

क्र.	आलेख	लेखक/लेखिका नाम	पृ.सं.
1.	श्रीमद्भगवद्गीतायां ज्ञानयोगस्य महत्त्वम्	डॉ. नीलमाधवप्रधानः	13
2.	श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रुतिवाक्यानां समर्थनं विस्तारश्च	डॉ० कुणालभारद्वाजः	20
3.	श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रबन्धवैलक्षण्यं तत्स्वरूपविचारश्च	Dr. B. Keshavaprapanna pandey	24
4.	श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमद्भागवतपुराणे च स्थितप्रज्ञस्य स्वरूपम्	स्वाति पारीक	29
5.	श्रीमद्भगवद्गीतोक्तदिशा कर्मभेदविमर्शः	डॉ.मनोजकुमारसाहुः	41
6.	श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मप्रबन्धन	सरस्वती मिश्रा	51
7.	श्री मद्भागवत गीता में सांख्य के तत्वों का विवेचन	काशीराम	61
8.	श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत में भक्ति	ममता प्रधान	70
9.	श्रीमदभगवद्गीता और भागवत : सांख्यतत्त्व का दृष्टिकोण	Dr.Tarulata Patel	80
10.	भागवत में निरूपित योग के विविध आयाम	डॉ. मंजुलाबहन ए. पटेल	96
11.	Effectiveness of Karma Yoga from the Bhagavad Gita in Reducing Work Stress: A Quantitative Study of Corporate Professionals	Sidhharrth S Kumaar	107
12.	श्रीमद्भगवद्गीता एवं भागवत् में भक्ति तत्व विमर्श	डा. गिरीश कुमार	124
13.	श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् में कर्म सिद्धान्त	गुलशन पाठक	130

14.	श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् में भक्ति वर्तमान परिप्रेक्ष्य में	गीता	136
15.	श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् में कर्म-सिद्धांत	डॉ० राकेश शर्मा	143
16.	महाभारते कर्मक्रियायोगयोः सिद्धान्तः गीतायाः सन्दर्भे	नुपूर	152
17.	A comparative study of meditation in the Srimadbhagavad Gita and the Bible	Rev. Dr. R.R. Bhaskar	166
18.	The Characteristics of Devotees and Path of Devotion in Srimad Bhagavad Gita	Mrs. M. SIVAPRIYA	175
19.	श्रीमद्भगवद्गीतायां तथा भागवतदर्शने च योगस्य तथा ध्यानस्य विमर्शः	Dr. S. Narasimhan	180
20.	श्रीमद्भगवद्गीता सांख्य तत्त्व	चेतन पुरी	183
21.	श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमद्भागवतपुराणे च प्रतिपादितं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम्	प्रशान्त शर्मा	186
22.	भगवद्गीतासन्दर्भानुगुणं सहजकर्मणां त्यागानौचित्यविचारः	देवज्योति-कुण्डुः,	189
23.	श्रीमद्भगवद्गीता में आयुर्वेद विमर्श	डॉ. राम करण लुहार	197

श्रीमद्भगवद्गीतायां ज्ञानयोगस्य महत्त्वम्

डॉ. नीलमाधवप्रधानः
सहायकप्राध्यापकः (अतिथि)
संस्कृतविभागः, रमादेवीमहिलाविश्वविद्यालयः,भूवनेश्वरम्, उडिशा

शोधसारः –

श्रीमद्भगवद्गीता न केवलं धार्मिकग्रन्थः अपितु मानवजीवनस्य दृष्टान्तग्रन्थः अपि अस्ति।मानवजीवनाय एतत् कथं स्वाभाविकम् इति विविधैः शास्त्रज्ञानैः अवगन्तुं शक्यते। महाभारते वर्णितमस्ति यत् **"सर्वशास्त्रमयी गीता"** पुनश्च स्कन्दपुराणेऽपि उक्तं यत् –**"सर्वदेवमयी गीता"** इति। गीतायाः माहात्म्यं ज्ञातुं महर्षिवेदव्यसेनोक्तम् यत्-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वंय पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

श्रीमद्भगवद्गीता सर्वेषां मनुष्याणां कृते अत्यन्तोपयोगिनी अस्ति। शरीरस्य अनित्यताआत्मनः अमृतत्वं च स्थापयित्वा पुरुषं कामसुखप्रवृत्तेः मुक्तिं करोति। अनेकमानवीयसमस्यानां समाधानं प्रस्तुतं करोति। पुरुषस्य कार्यफलकामनां नाशयति विना सङ्गं कार्यं कर्तुं प्रेरयित्वा। सम्प्रति प्रयत्नस्य सफलपरिणामस्य अभावे प्रसङ्गाः आगच्छन्ति, अतः अस्य कारणात् अपि तस्य उपयोगिता स्वीकर्तुं शक्यते, यथा-

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"[1]

श्रीमद्भगवद्गीतायाः ज्ञानयोगं मानवकल्याणाय वर्णिता अस्ति भगवता मुखारविन्दात्। ज्ञानयोगस्य लक्ष्यं जन्ममरणचक्रात् सर्वदा मुक्तिः एव। मनः इन्द्रियाणि च आसक्तिविमुक्तात्मा प्रकृतेः सङ्गरहिता भवति। एकैकं चेतनं नित्यम् अनन्तं समं च विचार्य सततं जपं ध्यानं च ज्ञानयोगमुच्यते।

अस्य शोधपत्रस्य उदेश्यं तावत् मनुष्याः श्रीमद्भगवद्गीतायाः विषये अधिकाधिकं सम्यक् ज्ञानं प्राप्नुवन्तु एवं ज्ञानयोगस्य ज्ञानप्रकाशेनन तेषां जीवनस्य

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता– 2.47

परिवर्तनं भवतु तथा च ते ज्ञानयोगमार्गे अग्रसरिताः भूत्वा ज्ञानयोगिनः भवन्तु इति।

ज्ञनयोगशब्दस्यार्थः –

ज्ञानशब्दः, यस्य अनुवादः अनेकेषां संस्कृतशब्दानाम् इव दुष्करः सिद्धः इति भवितुमर्हति। समस्या तस्य लघुशब्दं 'ज्ञानम्' अस्ति। ज्ञातव्यं, प्रतीयमानम्, अवगन्तुम्, अनुभवितुं, परिचयं कर्तुम्, अन्वेष्टुम्, अन्वेषणं वा इति विविधरूपेण तस्य अर्थः भवितुम् अर्हति।

सम्भवतः एतासुपरिभाषासु एतावन्तः संबन्धाः सन्ति इति कारणतः समकालीनयोगाध्यापकाः प्रायः ज्ञानयोगस्य मार्गं बुद्धिजीविनां-विदुषां कृते – मार्गः इति वर्णयन्ति, तत्रैव त्यजन्ति च। वयं सर्वे ज्ञानं अन्वेषयामः, स्वस्य अन्तः केनचित् गहने स्तरे वयं योगस्य एतत् एव प्रयोजनम् इति अनुभवामः तथा च एतस्मिन् विषये गहनाध्ययनं कुर्मः।

अन्येषु शब्देषु योगप्रसङ्गे ज्ञानं तत् भवति यत् आत्मसाक्षात्कारात् परं प्राप्यते।

महान् संस्कृतविदः एम. मोनियर विलियम्स इत्यनेन संकलिते शब्दकोशे ज्ञानशब्दः अधिकस्पष्टतया परिभाषितःअस्ति, यथा- "ज्ञानं ज्ञातुं, परिचितं भवितुं" इति।

परिभाषा -

ज्ञानं तत् भवति, यत् कालान्तरे समीचीनं सत्यं च यत्किमपि संज्ञानात्मकं प्रसङ्गं निर्दिशति। विशेषतया तस्य विषयस्य समग्रानुभवात् अविभाज्यज्ञानं निर्दिशति, विशेषतः वास्तविकतायाः विषये अथवा परमात्मनः विषये इति। एतत् ज्ञानमेव जीविते अथवा मृत्योः अनन्तरं मोक्षं वा आध्यात्मिकमुक्तिं वा ददाति।

पाश्चात्यविदुषोः जोन्स-रयानमहोदययोः मतानुसारेण ज्ञानयोगसन्दर्भे ज्ञानं "साक्षात्कारः वा ज्ञानं वा" इति रूपेण अधिकतया अवगन्तुं शक्यते, अर्थात् "अध्ययनमार्गः", यस्मिन् व्यक्तिः हिन्दुधर्मे ब्राह्मणपदकस्य च परमवास्तविकतयोः मध्ये एकतां प्राप्नोति। एषा व्याख्या प्राचीनोपनिषत्सु भगवद्गीतासु च प्राप्यते।

ज्ञानयोगमेव ज्ञानप्राप्तेः मार्गः। एतत् हिन्दुदर्शने वर्णितत्रिषु शास्त्रीययोगप्रकारेषु अन्यतमः अस्ति, अन्ये द्वे कर्मयोगः भक्तियोगः च।

आधुनिकवर्गीकरणे राजयोग इति शास्त्रीययोगः चतुर्थयोगः इति उल्लिखितः अस्ति, यस्य प्रवर्तनं स्वामिना विवेकानन्देन कृतम्।

वैदिकयुगसाहित्ये उल्लिखितः यत् मोक्षमार्गत्रयाणां मध्ये ज्ञानमार्गः कर्ममार्गश्च प्राचीनतरः। त्रयाः अपि मार्गाः कस्यापि साधकस्य कृते उपलभ्यन्ते, ये प्रवृत्तिः, योग्यता, व्यक्तिगतप्राथमिकता च इति आधारीकृत्य चयनिताः सन्ति। ज्ञानयोगः स्वस्य अनुयायिनाम् आत्मनः विषये चिन्तयितुं वक्तुं च प्रोत्साहयति यत् अहंकारात् दूरीकृत्य स्वस्य शाश्वतम् आत्मनः शरीरसम्बद्धात्मतः पृथक् कर्तुं मार्गं सम्प्रसारयति।

ज्ञानयोगः –

ज्ञानयोगमाध्यमेन श्रीमद्भगवद्गीता उपदिशति यत् एतत् सम्पूर्णं दृश्यं जगत् केवलम् ईश्वरतः एव सृष्टिरस्ति। उत्पद्यते अन्ते च ईश्वरे विलीयते इत्यर्थः। प्रकृतेः समस्तम् अस्तित्वम् उत्पन्नमस्ति तथा च समग्रस्य जगतः उत्पत्तिनाशस्य मूलकारणम् ईश्वरः एव अस्ति, यथा-

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥[1]

अधुना ज्ञानयोगस्य विषयः कः भवितुमर्हति इति अत्र प्रश्नः आयाति चेत् अस्य प्रश्नस्य प्रत्युत्तरेण सम्पूर्णं ज्ञानं येन जीवस्य परमो मोक्षः लभते इति वक्तुं शक्यते। अतः मनुष्यस्य आत्मानं, प्रकृतिम्, ईश्वरं च ज्ञातुम् आवश्यकम्, एतत् ज्ञात्वा मनुष्यः स्वस्यात्मनम् अवगन्तुं शक्नोति लक्ष्यं साधयितुं शक्नोति च। परमप्रकृतेः स्वरूपं निरूप्य पृथिवी जलं अहङ्कारं वायुः आकाशं मनः बुद्धिः इति उक्तम्। यथा –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥[2]

अयं च अहङ्कारः, मम स्वभावः यः अष्टधा विभक्तः, सः अपरा (मूल) प्रकृतिः अन्यः च परमा प्रकृतिः यस्मात् सर्वं जगत् स्थाप्यते, सा मम जीवरूपं परम

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता-7.6
2. श्रीमद्भगवद्गीता-7.4

अर्थात् (चेतनः)। आत्मनः स्वरूपं श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयाध्याये वर्णितम् अस्ति। आत्मनः स्वरूपं वर्णयन् उक्तं-

न जायते म्रियते वा कदाचि
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥[1]

अर्थात् अयमात्मा न जायते न म्रियते काले न च जनिष्यते, अजातः, नित्यः, शाश्वतः, पुरातनः च, शरीरस्य वधेऽपि हन्तुं न शक्यते।

तस्मिन् एव प्रकरणे आत्मनः अन्यरूपाणि वर्णयमानोऽयं आत्मा सद् इति उक्तम्। अयं आत्मा अविनाशी इति न संशयः, अयं आत्मा नित्यः सर्वगतः, स्थावरः च सुखेन तिष्ठति स नित्यः। अयमात्मान्न भग्नं कर्तुं शक्यते न तु दग्धं, न विलीयते न शोष्यते, अयं आत्मा नित्यः सर्वगतः अविचलः स्थिरः सदा समानरूपः। यथा –

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥[2]

अयं च आत्मा अव्यक्तः, अगुप्तः च अयं आत्मा अकारणः अत एव अहम् अज्ञानी अस्मि! अयम् उपर्युक्तरीत्या आत्मानं ज्ञात्वा शोकं न युज्यते इत्यर्थः। न एवं एषः आत्मा, एतत् ज्ञात्वा, अस्य विषये शोकयोग्यः नास्ति 'स्वागतम्' इत्यर्थः। योगाभ्यासं शुद्धात्मा जितात्मानमहंकारं च। एतादृशः महापुरुषः अर्जनं कृत्वा अपि अर्जने न लीनः भवति। "कर्मयोगी" इन्द्रियाणि जित्वा कार्ये कदापि न सङ्गः भवति सर्वजीवानाम् आत्मानमस्य ईश्वरं प्रतिमनः निहितं भवति। यथा-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥[3]

श्रीमद्भगवद्गीतायाः अष्टमे अध्याये परमदिव्यपुरुषस्य (ईश्वरस्य) रूपस्य वर्णनं कुर्वन् उक्तम्सः ईश्वरः सर्वज्ञः अस्ति, अतः तस्य किमपि अज्ञातं नास्ति सः प्राचीनः प्राचीनकालात् च अस्ति अर्थात्। सदा सर्वस्य नियन्त्रकः शासकः च अस्ति

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता-2.20
2. श्रीमद्भगवद्गीता-2.24
3. श्रीमद्भगवद्गीता-5.7

तथा सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतरः सर्वस्य एकमात्रः आधारः भवति। अतीव कठिनं चिन्तनं सः एव अतीव उज्ज्वलः अस्ति, अतः तस्य अन्धकारः नास्ति। यथा-

कविं पुराणमनुशासितार-मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥[1]

पुनः यः मृत्योः समये अचञ्चलचित्तेन भक्तौ प्रवृत्तः भवति, योगशक्त्या भ्रूयोः मध्ये स्वस्य आत्मानं सम्पूर्णतया स्थापयति, सः अवश्यमेव ईश्वरस्य परमं पदं दिव्यं स्थानं प्राप्स्यति।

प्रयाण काले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्- स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥[2]

ज्ञानयोगस्य प्रयोजनार्थं श्रीमद्भगवद्गीता अपि कामयोगस्य उपदेशं करोति, यस्य ज्ञानेन परमां गतिं निःसंदेहं प्राप्यते।

ज्ञानयोगस्यमहत्वम्-

ज्ञानस्य अवधारणायाः तात्पर्यं यत् विषयाः सन्ति येषां विषये ज्ञानम् अत्यावश्यकम्। भगवान् श्रीकृष्णः तादृशद्वयं वस्तुवर्णयति- प्रथमं, कस्यचित् "क्षेत्रस्य" अर्थात् जीवशरीरस्य/मनसस्य सह व्यक्तेः सम्बन्धः, द्वितीयं च तस्यैव व्यक्तेः सर्वक्षेत्रस्य परमज्ञेय-परमात्मना सह सम्बन्धः।

अहङ्कारः बुद्धिः अव्यक्तः स्वभावः पञ्च संज्ञानात्मकेन्द्रियाणि पञ्च सक्रियेन्द्रियाणि इन्द्रियाणां समन्वयकं कनिष्ठं मनः पञ्च इन्द्रियप्रतीतिक्षेत्राणि इच्छा, विरक्ति, सुख, वेदना, शरीर/मनस समुच्चय, चैतन्यं साहसं चः एतानि क्षेत्राणि तेषां विकाराः च।[3]

पञ्च तत्त्वानि पृथिवी, जलं, अग्निः, वायुः आकाशः– शरीरस्य घटकाः ये मनोवैज्ञानिककार्यक्षमतायाम् अपि प्रतिबिम्बिताः भवन्ति। अहङ्कारः आत्मपरिचयस्य भावः। बुद्धिः उच्चतरं मनः, सनसः तत् अंशः यः निर्णयम् आत्मनिरीक्षणं च कर्तुं समर्थः (बुद्धिः)। अव्यक्तस्वभावः सर्वव्यक्तवस्तूनाम् आधारभूतं त्रिगुणैः, ऊर्जागुणत्रयैः युक्तम्। पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि (रसः, स्पर्शः, दृष्टिः,

---

1.श्रीमद्भगवद्गीता-8.9

2.श्रीमद्भगवद्गीता-8.10

3. श्रीमद्भगवद्गीता-3.6-7

गन्धः, श्रवणं च) पञ्चकर्मेन्द्रियाणि (मुखं, हस्तं, लिङ्गम्, गृदा, पादम् च) च कनिष्ठचित्तस्य क्रियाकलापैः सह समन्वयेन संचलितानि भवन्ति। नित्यचेतनानुभवेन्द्रियप्रतीतिक्षेत्राणि रसस्पर्शरूपगन्धध्वनिः इति।

श्रीकृष्णः व्यक्तित्वस्य सप्त अधिकान् आयामान् सूचीबद्धं करोति- रुचि-अरुचिः, सुख-दुःखस्य अनुभवः, समग्रजीवरूपेण आत्मनः बोधः (व्यक्तिगतजागरूकतायाः एकस्य छत्रस्य अधः निहितः तत्त्वसमूहः), जीवः, भावात्मकः जीवः स्वरूपेण स्वस्य विषये सजागता, साहसादिमनसः अवस्थानां च उपस्थितिः (श्रीकृष्णेन उक्तेषु बहुषु उदाहरणेषु एतत् एकमेव)।

परन्तु कृष्णः दर्शयति यत् रूपाणामपि एतेषु कश्चन अपि व्यक्तित्वतत्त्वस्य स्वस्य आत्मविवेकः नास्ति। तेषु प्रत्येकं मनः सहितं विषयेण ज्ञातम् अनुभवस्य वस्तु अस्ति – अपरिवर्तनीयं, व्यक्तिगतं चैतन्यम्। एषः एव मानवव्यक्तित्वस्य अन्तः "क्षेत्रज्ञः" यः सांख्यव्यवस्थायां पुरुषः इति उच्यते एवं प्रत्येकं मानवः क्षेत्रस्य (प्रकृतेः) क्षेत्रज्ञस्य (पुरुषस्य) च समुच्चयः, तस्य अन्तः प्रविष्टस्य शरीरस्य/मनसः, चैतन्यस्य च। कृष्णः उभयोः सारांशं निम्नलिखितश्लोकेषु करोति। यथा-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥[1]

प्रकृतिः कर्महेतुःकर्ता, करणसाधनं कार्यं च। पुरुषः (प्रकृतिसम्बन्धे एव) सुखदुःखानुभवस्य कारणम्।

एवं प्रकृतिः कर्मप्रतिक्रियायाः अनन्तजालं निर्माति, केवलं प्राणशक्तिः (चेतना) एतत् अनुभवं सुखदं दुःखदं वा अवगत्य जीवनस्य स्वरूपं ददाति।

परन्तु मनुष्यजीवनस्य एतेषां घटकानां विषये अस्माकं कोऽपि कस्मिन् अर्थे ज्ञानं प्राप्तुं शक्नोति? श्रीकृष्णः प्रतिवदति यत् चैतन्यस्य (पुरुषस्य) अन्तःस्वभावः आनन्दः एव, परन्तु प्रकृतेः नित्यक्रियायाः सह तस्य सम्बन्धः तस्य अभ्यासेन बहिः गमनं जनयति – क्रमेण च तस्य यथार्थं स्वरूपं विस्मरति। एषा मौलिकः आध्यात्मिकः समस्या अस्ति। अनुभवेन परिस्थितिं चैतन्यं न पश्यति, अतः प्रकृतेः अनन्तपरिवर्तनेषु द्विमत्तम् आयाति। आध्यात्मिकस्वतन्त्रता मनुष्यस्य अस्मात् आत्मविस्मरणात् तदनन्तरं लौकिकसुखदुःखेषु आसक्तिः च।

---

[1].श्रीमद्भगवद्गीता-13.20

अतः अधुना अस्माकं कृते श्रीकृष्णः यत् ज्ञानमार्गं दर्शयितुम् आरब्धवान् तस्य विषये काचन सूचना दत्ता वर्त्तते। ज्ञानं तत् विकल्पं वा कर्म वा यत् मानवजीवनस्य द्वयोः पक्षयोः विषये अस्माकं ज्ञानं जीवनस्य उच्चतमस्य उद्देश्यस्य सेवायां स्थापयति - प्रकृतिपुरुषौ च बन्धनयोः न्यूनीकरणं करणीयम् तथा च निराकरणं कर्तव्यम् इति।

उपसंहारः-

उपरुक्तेषु वर्णनेषु श्रीमद्भगवद्गीतायां ज्ञानयोगस्य महत्वम् अतीव सूक्ष्मातिसूक्ष्मं वीजरूपेण वर्णितं भवति। यस्य पठनपाठने ज्ञानिनां ज्ञानपिपासूनां हृदयकन्दराह्लादयिष्यति तथा संशयाश्रितानां जिज्ञासूनां संशयस्य निराकरणं भविष्यति इति शम्।

सहायकग्रन्थ/अन्तर्जालीसम्बन्धानां सूची-

1. श्रीमद्भगवद्गीता – सम्पा. डॉ. राजकुमार उपाध्याय 'मणि'- चौखम्भा प्रकाशन – वाराणसी- 2015
2. श्रीमद्भगवद्गीता यथारुप- सम्पा. श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभूपाद- भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट- मुंबई- 2022
3. https://en.wikipedia.org/wiki/Jnana_yoga
4. https://yogainternational.com/article/view/jnana-yoga-the-path-of-wisdom-from-the-bhagavad-gita/
5. https://mgcub.ac.in/pdf/material/202004291910128421656071.pdf
6. http://geetahindi.blogspot.com/2012/09/13.html

https://www.holy-bhagavad-gita.org/chapter/13

श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रुतिवाक्यानां समर्थनं विस्तारश्च

डॉ० कुणालभारद्वाजः
प्रशिक्षितस्नातकशिक्षकः(केन्द्रीय विद्यालयः)
ईमेल-bhardwajkunal54@gmail.com

वैदिकसनातनमूल्येषु धर्मस्य अध्यात्मस्य च स्थानं प्राणेभ्योऽप्यधिकं महनीयम् अस्ति । अस्माकम् आचार्यैः येषां कर्तव्यानां मूल्यानां चोपदेशाः शास्त्रेषु प्रतिपादिताः ते सम्पूर्णविश्वस्य कल्याणस्य मार्गं प्रशस्तं कुर्वन्ति । अनेकविघ्नानाम् अल्पायुषः च कारणात् अस्मिन् भौतिकजगति मुक्तेः मार्गं पारयितुं मनुष्येभ्यः सुदुष्करम् अस्ति एतदर्थं भक्तवत्सलभगवान् श्रीकृष्णः श्रीमद्भगवद्गीतामाध्यमेन विश्वकल्याणोपदेशं करोति । अस्मात् कारणाद् विद्वांसः श्रीमद्भगवद्गीतां सर्ववेदोपनिषदसारम् इति उक्तवन्तः। भगवता व्यासेनोक्तम् यथा-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य सुखपद्माद्विनिःसृता ।।
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्वदेवमयो मनुः ।।[1]

ईशावास्योपनिषत् प्रधानदशोपनिषत्सु प्राथम्येन परिगण्यते । तत्र आत्मनो निरूपणमेव उपनिषदो मुख्यविषयः क्रमेण अस्यामुपनिषदि आत्मसाक्षात्करणोपदेशः समुपस्थाप्यते ।तत्र प्रथमे मन्त्रे "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्[2]" परमेश्वरेण आच्छादनीयम् , सर्वेषु प्राणिषु ईश्वरस्य वासो वर्त्तते । सर्वत्र भगवद्दृष्टिः वर्तते। तेन ईश्वरेण यः प्रसादरूपेण दत्तमस्ति तमेव भुञ्जीथाः। अस्माभिः गृहीतव्यम् इत्यर्थः । नैतिकसामाजिकदृष्ट्या अपि "मा गृथः कस्यस्विद्धनम्[3]" इत्यत्र चौरकर्मनिषेधो वर्तते येन समाजे अपराधेषु न्यूनता भवेद् । जनाः सुरक्षिताः स्युरिति भावः।

---

[1] महाभारतम् 6/43/1-2

[2] ईशावास्योपनिषत्/1

[3] ईशावास्योपनिषत्/1

नीतिशास्त्रेषु अपि उक्तं यथा –

"मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः[1]" ॥

द्वितीये कर्मणः प्रशस्तिः वर्तते ।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे[2]" ।।

कर्म विहाय न कोऽपि मार्गो मुक्तये इति । तत्रापि धार्मिकनित्यकर्मोपदेशः येन मोक्षं प्राप्नोति । तत्राऽपि निष्कामकर्मोपदेशो वर्तते । कर्मसु भोगासक्तेः निषेधः क्रियते येन जनाः भ्रष्टाचारं न कुर्युरिति । महीधराचार्यमते "कर्माणि अन्तःकरणशोधकानि[3]" भवन्ति । ज्ञानयुक्तमनुष्यो निष्कामभवनया विहितकर्माणि कृत्वा प्रत्यवायाद् विरहितत्वाद् आत्मज्ञानेन कर्मयोगमार्गेण ज्ञानकर्मसमुच्चयेन मोक्षमाप्नोति । अस्याः श्रुतेः विस्तारः श्रीमद्भगवद्गीतायामपि अष्टादश अध्यायेषु भगवता श्रीकृष्णेनोक्तः यथा-

"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्[4]" ।।

तत्रैव तृतीयमन्त्रेण काम्यकर्मकर्तारं निन्द्यते। ये ज्ञानविहीना आत्मानं न जानन्ति । असुर्याः असुराणाम् इमे असुर्याः असुषु प्राणेषु रमन्ते ते असुराः प्राणपोषणपराः। निष्कामभावनया जनकल्याणं सम्भवति। भौतिकवादिनः काम्यकर्मपराः भोगासक्ताः स्वार्थिनो निषिद्धकर्माणि अपि कुर्वन्ति ।आत्मानं घ्नन्ति। केचन कर्त्तव्यात् पलायन्ते। आत्महननं गृहत्यागादिकं च कुर्वन्ति अनेन तेषां पारलौकिकी अधोगतिस्तु भवत्येव समाजेऽपि विकृतयः जनयन्तीति।

"असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः[5]" ॥

---

[1] हितोपदेशः/मित्रलाभः/14

[2] ईशावास्योपनिषत्/2

[3] महीधरभाष्यम् 40/2

[4] श्रीमद्भगवद्गीता 2/51

[5] ईशावास्योपनिषत्/3

अनेकाभिः दुर्भावनाभिः आसक्ताः जनाः मोहजाले बध्नन्ति, स्वकीयपारमार्थिकलक्ष्याद् दूरं गत्वा नरकेषु पतन्ति । यथोक्तम् -

"अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ[1]"।।

त्रिषु मन्त्रेषु आत्मनः स्वरूपविषये विस्तरेण वर्णनं प्राप्यते । तत्र अनेजत्[2] न एजति। मनसो जवीयः जवत्तरम् । चक्षुरादिभ्यो न प्रत्यक्षीकरणयोग्यः । एजति गमनशीलः न एजति जङ्गमः दूरे स्थितः । अन्तिके समीपे। सर्वस्य अन्तरे सर्वस्य बाह्यतः[3] चास्य स्थितिः । पर्यगात् परिसमन्ताद् गतवान् आकाशव्यापी ।शुक्रः शुद्धः व्रणरहितःअक्षतः ।अस्नाविरः स्नायुरहितः। अपाविद्धः पुण्यपापवर्जितः। कविः क्रान्तिदर्शी।स्वयम्भूः स्वयं भवति। परिभूः सर्वेषां परितः भवति। शाश्वतः । अकायः शरीररहितः[4] । विरुद्धलक्षणैः प्रतिपदितोऽनिर्वचनीयत्वाद् इति । श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयेऽध्यायेऽपि आत्मनः स्वरूपं यथोक्तम् -

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"[5]।।

सर्वत्र भगवद्दर्शनं मन्त्रद्वयेन प्रतिपादितं यथा –

"यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः[6]" ॥

उपर्युक्ते यथोक्तात्मनि वा तानि भूतान्येव परमार्थात्मदर्शनाद् आत्मा एव व्यावृतः। यदा सर्वत्र परमात्मानं पश्यति तदा कः मोहः कः शोकः इति । अज्ञानेन कर्मलिप्तता भवति। तेनैव मनुष्यः शोकसन्तप्तः मोहासक्तश्च भवति। एवमेव श्रीमद्भगवद्गीतायामपि आत्मवेत्तुः विषयके यथोक्तम्-

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता 16/16

[2] ईशावास्योपनिषत्/4- अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

[3] ईशावास्योपनिषत्/5- तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

[4] ईशावास्योपनिषत्/8- सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम् अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूःयाथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

[5] श्रीमद्भगवद्गीता 02/20

[6] ईशावास्योपनिषत्/07

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्[1]।।

ब्रह्मवेत्ता अभितः सर्वत्र परमात्मतत्वं पश्यति। ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति तस्यां स्थितौ मोक्षं प्राप्नोति।

शोधपत्रस्य सारः

श्रीमद्भगवद्गीतायां प्राधान्येन प्रतिपादितविषयस्य निष्कामकर्मयोगस्य मूलसूत्रम् अपि ईशोपनिषदि एव प्राप्यते ।विश्वबन्धुत्वोपदेशोऽपि ईशोपनिषदि उपलभ्यते ।ज्ञानकर्मसमुच्चयेन दुःखनिवर्तनोपदेश्च अस्याम् उपनिषदि प्रतिपादितः । एतदर्थम् ईशोपनिषदः विभिन्नपक्षेषु सुखसम्पादनाय उत्कृष्टसमाजस्य व्यवस्थापनायच ईशोपनिषदि वर्णितमन्त्राणां महत्वम् अस्माभिः दृश्यते ।विषयदृष्ट्या अत्र कर्मोपासना ज्ञानोपासना चेति निरूपिते स्तः[2] । यथा विश्वस्य कारणरूपब्रहमणः परमतत्वस्य विवेचनम् अत्र उपनिषदि कृतं तथैव श्रीमद्भगवद्गीतायामपि दृश्यते । कर्मोपासनायाः लक्ष्यं परमतत्त्वप्राप्तिकरणे मनुष्येषु योग्यता सम्पादनम् एव । ज्ञानोपासनायाः लक्ष्यं अनासक्तिः। उपनिषदां प्रधानोद्देश्यं तु आत्मज्ञानेन मोक्षप्राप्तिः। उपनिषद्भागस्तु सकलनैतिकदार्शनिकचिन्तनस्य मूलाधारः। अस्याम् उपनिषद्युपरि बहुभिराचार्यैः भाष्याणि कृतानि । तेषु भाष्यग्रन्थेषु स्वस्वकामनानाम् अर्थानां दोहनं च कृतम् । अत्र आद्येन मन्त्रेण सर्वकामानां परित्यागेन ज्ञाननिष्ठा उक्ता ज्ञाननिष्ठासम्भवे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्[3]" इत्यनेन कर्मनिष्ठा विहिता । षड्भिर्मन्त्रैः ज्ञानोपासनाकर्मोपसनयोः समुच्चयोपदेशः प्राप्यते येन साधकाः इहलौकिकं कर्त्तव्यानि सम्पाद्य परमार्थं प्राप्नुवन्ति इति। अस्यामेव उपनिषदि सम्पूर्णवेदान्तदर्शनसम्बद्धसिद्धान्तानां साररूपेण निरूपणं वर्त्तते ।अस्याः सिद्धान्तानां सजीवचित्रणं श्रीमद्भगवद्गीतायां विस्तरेण वर्णितम् । अत एव वयं निश्चयेन वक्तुं शक्नुमः यत् श्रीमद्भगवद्गीतायां उपनिषद्वाक्यानां समर्थनं विस्तारश्च भवतः।

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता 5/26

[2] ईशावास्योपनिषत्/11

[3] ईशावास्योपनिषत्/2

श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रबन्धवैलक्षण्यं तत्स्वरूपविचारश्च

Dr. B. Keshavaprapanna pandey
Assistant Professor, Dept of Sanskrit
Dwaraka Doss Goverdhan Doss Vaishnav college
Arumbakkam, Chennai – 106
Email- keshavaprapanna@gmail.com
Mobile - 8124970316

यत्पदाम्भोरुहध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः।
वस्तुतामुपयातोऽहं यामुनेयं नमामि तम्।।
तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः।
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः परः।।[1]

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ।
स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।
नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ॥१॥ [2]

भगवता कृष्णेनानुगृहीतां गीतां अनतिविस्तीर्णतया जिज्ञासमानानां आस्तिकानां भगवद्भक्तानां कृतेऽत्यन्तमुपादेयो भवति भगवद्यामुनाचार्यानुगृहीत-गीतार्थसङ्ग्रहाख्यग्रन्थः । पद्यात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे भगवद्गीतायाः प्रत्यध्यायं सारगर्भिता यावदपेक्षिता अर्थविशेषाः एकैकेन पद्येन वेदान्तदेशिकाचार्यानुगृहीतगीतार्थसङ्ग्रह-रक्षाख्यया व्याख्यया सहिताः प्रतिपादिताः। इदानीमुपर्युक्तपद्यैः तत्त्वहितरूपं समस्ताध्यात्मशास्त्रार्थसारं महर्षयः यत् सञ्जगृहुः तदिह यावदपेक्षितं विव्रियते । तदेतदुभयं तत्त्वहितरूपं सर्वोपनिषत्सारसङ्कलनात्मिकायां भगवद्गीतायां प्रतिपाद्यतया प्रदर्शयन् तत्राप्युपनिषदां तत्त्वप्राधान्यस्य शारीरके सूत्रितत्वादिहापि

---

[1] म.भा.शा.मो.ध. 347.83

[2] गीतार्थसङ्ग्रहः-1

तत्प्रधानतया व्यपदिशति श्रीमद्यामुनाचार्यः स्वीये गीतार्थसङ्ग्रहे उपरितमेन प्रथमश्लोकेनानेन । इदानीं तद्व्याख्यातृश्रीमद्वेदान्तवर्यानुसारं तद्विवेचनं प्रतिपदार्थप्रतिपादनपूर्वकमिह प्रस्तूयते

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचर इत्ययं श्लोकः प्रतिपदार्थकथनपूर्वकमिह स्वामिवेदान्तदेशिकाचार्याणां व्याख्यामाश्रित्य प्रतिपाद्यत इह । स्वधर्म-स्वे धर्माः स्वधर्माः, स्ववर्णाश्रमनियतशास्त्रार्थाः, **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** [1] इति हि गीयते गीतायाम् । स्वस्य धर्म इति समासेऽप्ययमेवार्थः । **ज्ञानम्**- अत्र परशेषतैकरस-यथावस्थितात्मविषयम्।

वैराग्यम् – परमात्मव्यतिरिक्तेषु सर्वेषु विरक्तिरुक्ता । **'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि'**[2] इत्यनेनात्र मुमुक्षोः स्वभावः प्रतिपादितः । तथा च पातञ्जलयोगानुशासनसूत्रम्- 'दृष्टानुश्रविक- विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति। कर्मयोगपरिकरभूतस्यापि वैराग्यस्य पृथगुपादानमपवर्गस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्त्वेन तत्प्राधान्य- ज्ञापनार्थं कन्दभूतरागनिवृत्त्या तन्मूलक्रोधादिसमस्तदोषनिवृत्तिज्ञापनार्थञ्च।

तत्र स्वधर्मज्ञानयोः प्रथमं कर्मयोगज्ञानयोगरूपेणावस्थितयोः आत्मसाक्षात्कारद्वारा भक्तियोगाधिकारनिर्वर्तकत्वेन तत्साधकम् । तदभिप्रायेणोक्तम् आत्मसिद्धौ **'उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिक- भक्तियोगलभ्यः'** इति। उत्पन्नभक्तियोगानामपि विशदतमप्रत्यक्षसमानाकारस्य तैलधारावदविच्छिन्न-स्मृतिसन्ततिरूपस्य आप्रयाणादनुवर्तनीयस्य अहरहरभ्यासाधेयातिशयस्य भक्तियोगस्य सत्त्वविवृद्धिसाध्यतया तद्विरोधिरजस्तमो मूलभूतपापनिर्बहणद्वारेण सत्त्वोपचयहेतु- तयोपकारकत्वाद् आत्मयाथात्म्य-ज्ञानपूर्वकैः परित्यक्तफलसङ्गकर्तृत्त्वादिभिः परमपुरुषाराधनैकवेषैः नित्यनैमित्तिककर्मभिह् भक्तेरुपचीयमानत्त्ववेषेण साध्यत्वम् । तदेतत्सर्वम् अभिसन्धायोक्तं भगवता पराशरेण-

'इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः।

---

[1] गीता-18.45

[2] नारदपरिव्राजकोपनिषदि-3

ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया।।'[1] इति।

महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः। **'प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते'[2]** इति वचनमपि पूज्यविषयविशेषनियतं योज्यम्। सैव वेदनोपासनध्यानादिशब्दैरध्यात्मशास्त्रेषु मोक्षोपायविधिवाक्यैः सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपाद्यते, गुरुलघुविकल्पानुपपत्तेः सामान्यशब्दानां समानप्रकरणोक्तविशेषविश्रमे च सम्भवति द्वारिद्वारादिकल्पनायोगाद्, **विद्युपास्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंहारदर्शनात् 'निदिध्यासितव्यः'[3]** इत्यस्य स्थाने विज्ञानशब्दश्रवणाच्च, परमपुरुषवरणीयताहेतुभूत- गुणविशेषवतैव लभ्यत्वश्रुतेश्च, तद्वरणस्य अस्मिन् शास्त्रे भक्त्यधीनोक्तेश्च। एवं सति वेदनेतरमोक्षोपायनिषेधकश्रुतीनाम् –

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।।' [4]

इत्यादिस्मृतीनाञ्चाविरोधः। तदेतदुक्तम्- 'भक्त्येकगोचरः' इति। भक्तेरेव गोचरो नान्यस्येत्यर्थः। एतेन कर्मसमुच्चयवाक्यार्थज्ञानादिपक्षाः प्रतिक्षिप्ताः। गोचरत्वमिह फलत्वेन ग्राह्यम्, **'भक्त्येकलभ्ये पुरुषे पुराणे'[5]** इत्यादिभिः ऐकरस्यात्, 'भक्तियोगलभ्यः' इति स्वोक्तसंवादाच्च।

उपायतया फलतया चैकस्यैव अवलम्बनादैश्वर्याद्यर्थभक्तिव्यवच्छेदार्थं वा अत्रैकशब्दः। अत्र हि ऐश्वर्याद्यर्वाचीनपुरुषार्थग्रहणं भूमविद्यायामिव निरतिशयपुरुषार्थ- प्रतिपादनार्थम्। तदभिप्रायेण च भाष्यम्- **'परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीत-भक्तियोगमवतारयामास'** इति गीताभाष्ये उपोद्घाते भगवद्रामनुजाचार्यैर्नुग्रहीतम्।

यद्वा निरतिशयैश्वर्ययुक्ततया भक्त्यर्हत्वमिह तद्गोचरत्वम् । ऐकान्तिकत्वादिव्यञ्जनाय त्वेकशब्दः अत्र। **'परावरज्ञं भूतानाम्'** अन्यभक्त्युन्मूलनाद् अव्यभिचारेण अनन्यविषयत्वम् ऐकान्तिकत्वम् उक्तम् ।

---

[1] वि.पु.6.6.12

[2] लैङ्गपुराणे-उत्तर. 9.19

[3] बृ.उ.4. 5.5

[4] गीता-11.54

[5] गारुडपुराणे पूर्वखण्डे 219.34

सातिशयनिरतिशयपुरुषार्थविवेकेन तदेकभोग्यतया उत्तरावधिराहित्यम् आत्यन्तिकत्वम् इत्युक्तम्।

कारणवाक्यस्थानां सद्ब्रह्मादिनाम् सामान्यशब्दानां समानप्रकरण- महोपनिषदादौ पठिताबाधितासम्भवाद् गत्यन्तरनारायणादिविशेष-शब्दार्थविश्रमं व्यञ्जयितुं **'नारायणः परं ब्रह्म'** इति विशेषतः समान्यतश्च व्यपदेशद्वयम् भवति। अनेन अविभक्तिकेऽपि नारायणानुवाकवाक्ये पूर्वापरवाक्यच्छायानुसाराच्छाखान्तरस- विसर्जनीयपठनाच्च व्यस्तत्वं व्यञ्जितम्। तेन च सर्वपरविद्योपास्यविशेषनिर्झरणार्थतया केवलपरतत्त्व-प्रतिपादनपरनारायणानुवाकसिद्ध एवास्य शास्त्रस्य विषयः। तद्विभूतित्वेन 'विश्वमेवेदं पुरुषः' (तै.ना.११.२) इतिवत् समानाधिकरणतया तत्राम्नातानां ब्रह्मशिवेन्द्रादीनां नारशब्दार्थानामिहापि **'ब्रह्माणमीशम्'**[1] इत्यादिभिस्तद्विभूत्येक-देशाश्रयत्वं प्रतिपाद्यत इति ख्यापितम्। उक्तं च स्तोत्ररत्ने-

स्वाभाविकानवधिकातिशयेशितृत्वं,
नारायण त्वयि न मृष्यति वैदिकः कः।
ब्रह्मा शिवः शतमखः परमस्वराडि-
त्येतेऽपि यस्य महिमार्णवविप्रुषस्ते ।।[2] **इति।**
संविल्सिद्धौ च अद्वितीयश्रुतिव्याख्याने च दर्शितम्-
'यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयोऽस्ति भूतले।
इति तत्तुल्यनृपतिनिवारणपरं वचः।।
न तु तत्पुत्रतधृत्यकलत्रादिनिवारकम्।
तथा सुरासुरनरब्रह्माण्डशतकोटयः ।।
क्लेशकर्मविपाकाद्यैरस्पृष्टस्याखिलेशितुः ।
ज्ञानादिषाड्गुण्यनिधेरचिन्त्यविभवस्य ताः।। इति ।

पुरुषनिर्णये च एतत्प्रपञ्चो ग्राह्यः। तदेतद्व्यपदेशद्वयं 'श्रियः पतिः' इत्यादिना प्रारम्भाष्येण व्याकृतम् । अत एव हि तत्रापि 'परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायणः' इत्यन्तेन समभिव्याहृतम्। निर्विशेषणस्यैव ब्रह्मशब्दस्य

---

[1] गीता-15.15

[2] स्तोत्ररत्नम्. 11

काष्ठाप्राप्तवृहत्त्वबृंहणत्वयोगिनि परमात्मन्येव योगरूढत्वेऽपि तस्मादन्यत्र जीवादौ तदुणलेशयोगाद् औपचारिकप्रयोगरूढेस्तद्व्यवच्छेदाय 'परम्' इति विशेषितम्। एवमेव ह्यन्यत्रापि विशेष्यते। ।

गीतैव तत्त्वहितयोः यथावच्छासनात् शास्त्रम्। उपनिपत्समाधिना सिद्धव्यवहारनिरूढेः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। एतेन शास्त्रान्तराद् अस्य शास्त्रस्याधिक्यं व्यञ्जितम्। इति। स्वयं च महाभारते महर्षिणोक्तम्- **'अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्'** [1] उक्तं चाभियुक्तैः-

यस्मिन् प्रसादसुमुखे कवयोऽपि ये ते,
शास्त्राण्यशासुरिह तन्महिमाश्रयाणि ।
कृष्णेन तेन तदिह स्वयमेव गीतं,
शास्त्रस्य तस्य सदृशं किमिवास्ति शास्त्रम् ।। इति।

पञ्चमवेदे चास्य अंशस्य प्राधान्यमुद्धृत्य आहुः-

भारते भगवद्गीता धर्मशास्त्रेषु मानवम्।
वेदेषु पौरुषं सूक्तं पुराणेषु च वैष्णवम् ।।[2] इति।

समीरितः सम्यगीरितः इत्यर्थः कृतोऽत्र । अपि च अज्ञान-संशय-विपर्यय-प्रतिक्षेपेण अत्र परमप्राप्यत्व- प्रापकत्व-सर्वकारणत्व-सर्वरक्षकत्व-सर्वसंहर्तृत्व-सर्वाधिकत्व-सर्वाधारत्व-सर्वनियन्तृत्व-सर्वशेषित्व-सर्ववेदवेद्यत्व सर्वहेय-रहितत्व-सर्वपापमोचकत्व-सर्वसमाश्रयणीयत्वादिभिः स्वभावैः भगवान् श्रीकृष्णः समस्त-वस्त्वन्तरविलक्षणतया पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपादित इत्यर्थः । समन्वय-सूत्रवन्निरतिशय-पुरुषार्थत्वविवक्षया वा समित्युपसर्गः। एवमनेन श्लोकेन शास्त्रार्थः सङ्गृहीतः ।

परिशीलितग्रन्थसूची-

1. श्रीमद्यामुनाचार्यस्वामिविरचितः गीतार्थसङ्ग्रहः, वेदान्तदेशिकव्याख्यासमन्वितः प्रकाशक-चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी-221001, प्र.संस्करणम्
2. श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्रामानुजानुगृहीतगीताभाष्यसहिता, प्रकाशकः-M.L.M Printers Kodamabakkam, Cennai-024, 1972, प्र.सस्कणम्-1972

[1] आदिपर्वणि 1.279

[2] महाभारते

श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमद्भागवतपुराणे च स्थितप्रज्ञस्य स्वरूपम्

शोधच्छात्रा – स्वाति पारीक
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर परिसर

श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भागवतपुराणञ्च हिन्दुधर्मस्य प्रमुखग्रन्थौ स्तः। एतेषु ग्रन्थेषु श्रीमद्भगवद्गीता महाभारते कृष्णार्जुनयोर्मध्ये भवितव्यस्य दार्शनिकसंवादो विद्यते, यः कर्तव्य एवं आध्यात्मिकावधारणान् संबोधयन्ति, तत्रैव श्रीमद्भागवतम् एकं कथात्मकं पुराणमस्ति, यस्य मुख्यविषयः कृष्णस्य जीवनम् शिक्षाकेन्द्रितमस्ति तथा च भक्ति पौराणिककथाधारितोऽस्ति।

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थः महाभारतयुद्धात् प्राक् अर्जुनं कृष्णैः दत्तोपदेशो विद्यते। अयं महाभारतस्य भीष्मपर्वणः अङ्गोऽस्ति। गीतायां अष्टादशाध्यायाः एवं सप्तशतंश्लोकाः सन्ति। भारतीयपरम्परानुसारं गीतायाः स्थानं तथैव विद्यते यथा उपनिषद् एवं धर्मसूत्राणामस्ति। महाभारतयुद्धसमये यदा अर्जुनः युद्धार्थं प्रस्तुतं न भवन्ति तदैव श्रीकृष्णः कर्मधर्मणां सम्यक् ज्ञानैः सहितम् अवगतं कारयित्वा उपदेशान् ददन्ति। ते एव उपदेशाः श्रीमद्भगवद्गीतायां संकलिताः सन्ति। उभयोः ग्रंथयोः सम्पूर्णतया भिन्नौ स्तः। श्रीमद्भागवतपुराणं महर्षिवेदव्यासस्य पुत्रः शुकदेवः राज्ञे परीक्षिताय उक्तं। श्रीमद्भागवतपुराणस्य कथा श्रवणानन्तरं ते मोक्षं प्राप्तवान्। श्रीमद्भागवतपुराणे द्वादशस्कन्धाः तथा अष्टादशसहस्रश्लोकाः सन्ति, यस्मिन् श्रीकृष्णजीवनस्य वर्णनं विद्यते। एष वैष्णवानां कृते प्रमुखग्रन्थो वर्तते। भागवच्छब्दस्यार्थो विद्यते यत्- भक्तिः ज्ञानं वैराग्यञ्च। ''विद्यावतां भागवते परीक्षा'' इति पंक्तिः भागवतपुराणस्य महत्वं वैशिष्ट्यञ्च प्रतिपादयति। उभयोः ग्रंथयोः प्रोक्ताः भेदाः सन्ति तथापि काश्चन समानताः अपि प्राप्यन्ते, यथा उभावेव ग्रन्थे नायकः श्रीकृष्णो विद्यते। उभयोरेव ग्रंथयोः मनुष्यं कर्तव्यपरायणं भूत्वा मोक्षप्राप्त्याः मार्गं दर्शयतः एवमेतदेव एतयोः दार्शनिकदृष्टिरस्ति।

<u>भगवद्गीता तथा भागवतयोरनुसारं स्थितप्रज्ञ-</u>

स्थितप्रज्ञशब्देनैव अर्थप्रतीतिर्भवति यत् स्थित इत्युक्ते शान्तबुद्धिभिर्युक्तः। स्थितप्रज्ञस्यार्थः वर्तते यतः विवेकबुद्धिः स्थिरः एवञ्च समस्तेषु मनोविकार रहितः विद्यते। स्थितप्रज्ञजनस्य कतिपयाः प्रमुखविशेषताः सन्ति।

- स्थितप्रज्ञजनः शान्त्या चिन्तनं करोति, तस्य बुद्धिः चञ्चला नास्ति।
- स्थितप्रज्ञजनं सुखदु:खे विचलितं न करुतः, सः परमानन्दे लीनं भवति।
- स्थितप्रज्ञजनस्य मनः सर्वासु परिस्थितिषु स्थिरं तिष्ठति। स्थितप्रज्ञजनः मनसा सन्तुष्टः तिष्ठति।
- स्थितप्रज्ञः अर्थात् प्रज्ञया स्थिरः, यस्यस्वान्ताकरणे ज्ञानस्य परमानुभूतिर्भवति।
- स्थितप्रज्ञजनः रागद्वेषरहितो भवति तथा सर्वदा सन्तुष्टः आनन्दितश्च भवति ।
- स्थितप्रज्ञजनः सद्बुद्धिः एवञ्च सदाचरणे स्थितः भवति सः स्वबुद्धयाज्ञानेनविवेकेन च आचरति ।
- स्थितप्रज्ञमनुष्यस्य पार्श्वे विवेकपूर्णनिष्कर्षं कर्तुं क्षमताः भवन्ति ।
- स्थितप्रज्ञपुरुषः स्वकर्मणो विचलितो न भवति ।
- स्थितप्रज्ञः स्वमनस उपरि नियन्त्रणं प्राप्य संयमी पवित्रः तथा च जीवन्मुक्तो भवति । जीवन्मुक्तस्य तात्पर्यमिदं यत् जीवितो भूत्वा सुखदुःखमोहादिभ्यः मुक्तः भूत्वा परमानन्दं प्राप्नोति । एतादृशाः जनाः मोक्षं प्राप्नुवन्ति ।

स्थितप्रज्ञशब्दः मूलतः श्रीमद्भगवद्गीतायाः अस्ति। एतदतिरिच्य श्रीमद्भागवतमहापुराणे अपि अस्य व्याख्याः प्राप्यन्ते। अतः सर्वप्रथमं श्रीमद्भगवद्गीतायाः अनुसारं स्थितप्रज्ञावस्थायाः विषये व्याख्याः प्रस्तूयन्ते।

श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रमुखतः द्वितीयाध्यायस्य ५४ तमतः ७२ तमं श्लोकं यावत् स्थितप्रज्ञः अथवा जीवन्मुक्तमनुष्यस्य लक्षणं तथा च तन्महिमावर्णनं विद्यते। मनुष्यस्य बुद्धौ स्थिरता आगमनेनैव स्थितप्रज्ञः इति कथ्यते।

स्थितप्रज्ञशब्दः मूलतः श्रीमद्भगवद्गीतायाः अस्ति। श्रीमद्भगद्गीतायां द्वितीयाध्याये स्थितप्रज्ञमनुष्यस्य सन्दर्भे एषः प्रसङ्गः अस्ति। यदा अर्जुनः श्रीकृष्णेन स्थितप्रज्ञमनुष्यस्य गुणानां विषये प्रश्नं पृच्छति तदा श्रीकृष्ण् उत्तरयति-

अर्जुन उवाच- हे केशवः! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का परिभाषा स्थितधीः किं प्रभाषेच किमासीत् किं व्रजेदिति? यथा-

[1]"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किमभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥"

भगवद्वाक्यं श्रुत्वा अर्जुनः स्थितप्रज्ञस्य स्वरूपविषये प्रश्नान् पृच्छति यत्- हे कृष्णः! स्थिरबुद्धियुक्तपुरुषस्य किं लक्षणम्? स्थिरप्रज्ञां किं वदति? कथमुपविशति? कथं चलति?

श्रीभगवान्नुवाच- पार्थ यदा मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति तदा आत्मनः एव आत्मनि तुष्ट स्थितप्रज्ञ उच्यते। यथा श्रीभगवान्नुवाच-

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थमनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदुच्यते ॥"[2]

पूर्वश्लोके अर्जुनेन पृष्टाणां चतुर्णां प्रश्नानां समाधानं क्रमेण प्रदत्तम्। अथ श्रीकृष्ण उवाच- हे अर्जुन! यदा मनसि स्थितान् सर्वान् कामान् पुरुषः परित्यजति तदा आत्मनि एव स्वात्मना परितृप्त स्थितधीपुरुषः कथ्यते। मनोविचलनस्य कारणभोगेच्छा एव कामनानां त्यागाद् मनः स्थिरं भवति। यदा मनुष्यः मनसि उत्पन्नान् संकल्पान् जहाति तदैव स्वयमेव आत्मना सन्तुष्टो भवति। तदैव स निश्चलबुद्धिमान् शास्त्रज्ञः कथ्यते। दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहःवीतरागभयक्रोधः मुनिः स्थितधीः उच्यते।

[3]"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहाः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥"

अत्रापि स्थितप्रज्ञस्यैव लक्षणं प्रस्तूयते श्रीकृष्णेन प्राप्तेषु बहुदुःखेषु अपि यः उद्वेगरहितः तिष्ठति एवं प्राप्तेषु बहुसुखेषु अपि यः इच्छारहितः विगतसुखतृष्णो

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

[2]श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

[3] श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

वा भवति। अर्थात् सुखोपलब्धां यः आसक्तो न भवति। रागभयक्रोधाः यस्य पार्श्वे न सन्ति स एव मननशीलो मनुष्यः स्थितप्रज्ञः उच्यते। स्थिरबुद्धिः पुरुषः सुखेषु सुखी न भवति तथैव दुःखेषु दुःखी न भवति। एवमेव रागं क्रोध भयञ्च सर्वथा परित्यजति। तद्रहितो वा भवति। यः सर्वत्र अनभिस्नेह तत् तत् शुभाशुभं प्राप्य न अभिनन्दानि न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

[1]"यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टु तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥"

प्रसङ्गानुसारं स्थितप्रज्ञस्यैव लक्षणं विविच्यते भगवता श्रीकृष्णेन यः सर्वथास्नेहरहितोऽस्ति यश्च शुभाशुभं प्राप्य न प्रशंसति न च निन्दति। न च द्वेषं करोति विषीदति वा तस्य पुरुषस्य बुद्धिः स्थिता अतः स एव स्थितप्रज्ञा कथ्यते। कूर्मः अङ्गानि एव अयं यदा सर्वशः इन्द्रियाणां इन्द्रियार्थेभ्यः संहरते तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

[2]"यदा संहरते चायं कुर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥"

अत्र स्थितप्रज्ञस्यैव लक्षणं स्पष्टयति श्रीकृष्णः, यथा कूर्मः स्वशरूराङ्गानि सर्वशः संकोचति, तथैवायं पुरुषः सर्वतः विषयेभ्य इन्द्रियाणि प्रव्याहरति स एव स्थित प्रज्ञ उच्यते। तस्यैव बुद्धिः स्थिरा वर्तते। निराहारस्य देहिनः विषया विनिवर्तन्तेरसवर्जम् अस्य रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते।

[3]"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥"

ननु योऽहर्दिवसमुपवासं कुरुते, तस्योपवासेन क्षीणशरीरन्द्रियस्य उपसंहाराभावेऽपि भोगशक्तेरभावात् स्वयमेव विषया विनिवर्तन्ते, कर्मयोगिनि तत्संहारनिबन्ध को विशेषः? इति शङ्कायाः समाधानमित्थं प्रतिपादयति श्रीकृष्णः- आहारमकुवर्णस्य विषयाणामग्रहीतुर्वा पुरुषस्य विषयाः निवर्तन्ते, किन्तु तेषां विषयाणां रागौ नैव समाप्यते। परन्तु स्थितप्रज्ञस्य रागोऽपि परमात्मानं पर दृष्ट्वा निवृत्तिमयते । वस्तुतः कर्मयोगिनां विषयनिवृत्तिवास्तविकी भवति। वस्तुतः

---

1 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

2 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

3 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

कर्मयोगिनां विषयनिवृत्तिर्वास्तिविकी भवति अशक्तानां निवृत्तिः तु अवास्तविकी एव। कौन्तेय हि यतत विपश्चितः पुरुषस्य अपि मन प्रमाथीनि इन्द्रियाणि प्रसभं हरन्ति।

[1]"यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥"

अत्र इन्द्रिय संयमाभावे प्राप्रहानि विषये सङ्केतयति श्रीकृष्ण- हे अर्जुन! मासे प्रयत्नं कुर्वतः बुद्धिमतः पुरुषस्यापि मनः प्रमथस्वरूपाणि इन्द्रियाणि बलपूर्वकं ईदृशः स्वभावः इन्द्रियाणाम् अत तेषां यत्नपूर्वकं निग्रहः आवश्यकः। तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः मत्परः आसीत् हितस्य इन्द्रियाणि विशे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

[2]"तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥"

वस्तुतः इन्द्रिय संयम एव स्थितप्रज्ञायाः हेतुरिति स्थापयति श्रीकृष्णः- अतः पुरुषः समस्तानि इन्द्रियाणि वशीकृत्य मत्परायणः समाहितचित्तः योगी भवेत्। यस्य पुरुषस्य च इन्द्रियाणि वशे वर्तन्ते तस्य प्रज्ञा स्थिरा अस्ति । अतः स एव स्थितप्रज्ञो भवितुमर्हति नान्यः। तु विद्येयात्मा रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् प्रसादम् अधिगच्छति।

[3]"रागद्वेषवियुक्तैस्तु प्रसादम् अधिगच्छति ।
आत्मश्चैर्विद्येयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥"

रागद्वेषयोस्त्यागः मनोनिग्रहश्च आवश्यकः इति निष्कर्षः ननु विषयचिन्तने स्युरेते दोषाः विषयोपभोगे कोऽसौ प्रकारः, येन विषया उपभुज्येरन् बुद्धिश्च न नश्येत् प्रत्युत प्रसाधयेत्? तत्राह कृष्णः- हे अर्जुन! वश्यात्मा पुरुषः रागद्वेषरहितैः स्वात्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् भुञ्जानः प्रसादमधिगच्छति। आत्मनो वा मनसः स्वस्मिन् स्थिरिरावश्यकी। विषयाभिलाषिणः मनसो न निग्रहः। विषयत्यागस्य वास्तविकी भावना कृत्वा एव विषयो भोक्तव्यः। अन्यथा विषयनरेकं पतिष्यति। प्रसादे अस्य सर्वदुःखानां हानिः उपजायते प्रसन्नचेतसः बुद्धि आशु हि पर्यवतिष्ठते।

---

1 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

2 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

3 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

[1]"प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठति ॥"

ननु प्रसादे सति किं स्यात्? इत्यत्र स्पष्टयति श्रीकृष्णः- चेतसो नैर्मल्ये प्रसादे वा सति पुरुषस्य समग्रदुःखानामभाव उत्पद्यते। प्रसन्नचित्तस्य पुरुषस्य बुद्धिः शीघ्रम् एव स्थिरा भवति। अतः स स्थितप्रज्ञो भवति। तस्मात् महाबाहो यस्य इन्द्रियाणि सर्वशः इन्द्रियार्थेभ्यः निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

[2]"तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥"

स्थिरप्रज्ञार्थम् इन्द्रियसंयमस्य विशेषावश्यकेतति प्रत्यपादि भगवता- हे अर्जुन! यस्य पुरुषस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियविषयेभ्यः वशीकृतनितस्य पुरुषस्य बुद्धिः स्थिरा अचला भवति। स एव स्थितप्रज्ञेति कथ्यते। इन्द्रियाणि स्वभावतः स्वस्वविषयं प्रतिधावन्ति। अतस्तेषां निरोध अवश्यमेव कर्तव्य। सर्वभूतानां या निशा तस्यां संयमी जागर्ति यस्यां भूतानि जाग्रति पश्यतः मुन सा निशा-

[3]"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥"

स्थितप्रज्ञपुरुषस्य विषयासक्तस्य पुरुषस्य च भेदमुपवर्णयितुं दिवसरात्रिदृष्टान्तेन श्रीकृष्णः कथयति हे अर्जुन! सर्वेषां भूतानां या रात्रिर्भवति तस्या रात्रौ संयमी स्थितप्रज्ञः जागर्ति। यस्मिन् दिवसे भूतानि जाग्रति तद्दिनं स्थितप्रज्ञस्य कृते रात्रिरेव। यस्यां रात्रौ समग्रप्राणिनः न जाग्रति तस्यां सांसारिकसुखरूपरात्रौ स्थितप्रज्ञः जागर्ति। संयमी निरोधेन सावधानो भवति। इदं काकोलूकन्यायेन स्पष्टं भवति। यद्वत् आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं समुद्रम् आपः प्रविशन्ति तद्वत् यं सर्वे कामाः प्रविशन्ति सः शान्तिम् आप्नोति न कामकामी।

[4]"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः परविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥"

---

1 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

2 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

3 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

4 श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

श्रीकृष्णः स्पष्टीकरोति- स्थितप्रज्ञः समुद्रवत् भवति। यथा सर्वतः पूरितमचलप्रतिष्ठ समुद्रनदीनां जलं विलयगच्छति तथैव स्थितप्रज्ञं सर्वे कामाः प्रविशन्ति। सः स्थितप्रज्ञः समुद्रवत् अचला शान्तिं प्राप्नोति। परञ्च यः कामकामी विषयासक्तो भवति स शान्ति नाधिगच्छति। स्थितप्रज्ञे विषयभोगाः न विकारमुद्भावयितुं सक्षमा भवन्ति इति भावः। यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निर्ममः निरहङ्कारः निःस्पृष्टः चरति सः शान्तिम् अधिगच्छति।

[1]**"विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।**
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥"

स्थितप्रज्ञस्य विषये अर्जुनस्य चतुर्थप्रश्नम् उत्तरयति भगवान् श्रीकृष्णः- यः पुरुषः सर्वान् कामान् विहाय ममतारहितो अभिमानवर्जितः निःस्पृहो भूत्वा आचरति स वास्तविकी शान्तिं प्राप्नोति। अर्थात् यः पुरुषः सर्वविधकामनां ममतां स्पृहाम् अभिमानं च त्यक्त्वा व्यवहरति स एव शान्तिमधिगच्छति। कामना ममता अभिमान इच्छा च बन्धनस्य कारणमतः एषां त्यागं कृत्वा स्थिरबुद्धिर्भवति इति निर्विवादम्।

श्रीमद्भगवद्गीतायाः द्वितीयाध्यायस्य ५४तमतः ७२ तमं श्लोकं पर्यन्तं स्थितप्रज्ञः जीवन्मुक्तस्य मनुष्यस्य लक्षणं महिमा च वर्णिताः सन्ति। मनुष्यस्य बुद्धौ स्थिरता एव स्थितप्रज्ञता कथ्यते।

स्थितप्रज्ञमनुष्यस्य व्याख्या श्रीमद्भागवतपुराणस्य द्वितीयः तथा एकादशस्कन्धे प्राप्तिर्भवति। यः उपदेशात्मकः तथा दार्शनिकः प्रतीयते, कारणं अस्मिन् वेदव्यासपूत्रः श्रीशुकदेवः राजा परीक्षितं श्री भगवन्तः अवताराणां सुन्दरोपदेशः ददाति येन सः मोक्षं प्राप्नुवन्ति। सर्वप्रथमं द्वितीयस्कन्धानुसारं स्थितप्रज्ञमनुष्यस्य लक्षणानामुपरि प्रकाशः दीयते।

[2]**"अभ्यसेन्मनसा शुद्ध त्रिवृद्ब्रह्मादरं परम् ।**
मनो यच्छेज्जिव श्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥"

मनुष्यः उपयुक्तविधिना आसनं कृत्वा मनः दिव्याक्षरं ॐकारस्य स्मरणं कारयेत् एवं श्वासं नियन्त्रय मनः वशे कुरुयात् येन सः दिव्यतेजं प्रति गमिष्यति।

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या ५४- ७२

[2] श्रीमद्भागवतपुराण द्वितीय स्कंध अध्याय १

[1]नियच्छद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथी ।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्विधा ॥

शनैः शनैः यदा मनः उत्तरोत्तरेण आध्यात्मिकतां प्रति गमिष्यति तदा तं इन्द्रियकार्येभ्यः भिन्नं करणीयं येन इन्द्रियाः बुद्धिभिः वशीभूतं भविष्यन्ति। अनेन भौतिककार्यकलापेषु लीनः मनः अपि श्रीभगवन्तः सेवायां प्रवृत्तयितुं शक्यते एवं पूर्णं तथा दिव्यभावेन स्थिरीकर्तुं शक्यते।

[2]यस्यां सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्ति लक्षणा ।
आशु सम्पद्यते योग आश्रय भद्रभीक्षतः ॥

हे राजन्! परमेश्वरस्य सर्वथा कल्याणमयव्यक्तिगतरूपेण एव सर्वत्र दर्शनं कर्तुमभ्यासे तथा स्मरणविधिना स्थिरं भूत्वा मनुष्यः शूघ्रमेव भगवन्तः भक्तिमयसेवा तेषां प्रत्यक्षाश्रयेण प्रापयितुं शक्यते।

[3]"यया सन्धार्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता ।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम् ॥"

राजा परीक्षितेन प्रपच्छ- हे ब्राह्मण! कृपया विस्तारेण कथय यत् मनः कुत्र एवं कथं योजनीयम्? धारणां कथं स्थिरीकर्तुं शक्यते?

[4]"जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवते रूपे मनः सन्धारये द्विधा ॥"

श्रीशुकदेवेन उत्तरितम्- मनुष्यः आसनं नियन्त्रयेत्, प्राणायामेन श्वसनं नियन्त्रणं कृत्वा मनः तथा इन्द्रियान् वशीकुर्यात्। पुनः स्थितबुद्धिना मनः श्रीभगवन्तः विराजः सेवायां मग्नः क्रियात्।

[5]"ध्याननेत्थ सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्य ज्ञानक्रियाश्रमः ॥"

---

[1] श्रीमद्भागवतपुराण द्वितीय स्कंध अध्याय १

[2] श्रीमद्भागवतपुराण द्वितीय स्कंध अध्याय १

[3] श्रीमद्भागवतपुराण द्वितीय स्कंध अध्याय १

[4]श्रीमद्भागवतपुराण द्वितीय स्कंध अध्याय १

[5] श्रीमद्भागवतपुराण एकादश स्कंध अध्याय १३, १४, १५, १६

यदा योगी एवं प्रकारेण अत्यधिकाग्रध्यानेन स्वमनः स्ववशे करोति तर्हि भौतिकवस्तुनां तेषां ज्ञानं तथा कर्मणा भ्रामकतत्त्वानां परिचयः झटिति समाप्तिर्भवति।

[1]"जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥"

पुरुषोत्तमेन भगवद्भिः प्रोक्तम्- हे उद्धवः! योगसिद्धयः तेन योगीना अर्ज्यते, येन स्वेन्द्रियाणामुपरि विजयमपाप्रयत स्वमनः स्थिरमकरोत्, प्राणायामे पूर्णदक्षतां प्राप्तवान् एवं यः स्वमनः मयि स्थिरीकृतवान्नस्ति।

[2]"वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूय कल्पसे ध्वने ॥"

अत एव स्ववाण्याः उपरि संयम्यत मनः दमयत प्राणवायोरुपरि विजयं प्रापय इन्द्रियान् नियमितं कुरु तथा विमलबुद्धिना स्वविवेकपूर्णप्रतिमां स्ववशीभूतं कुरु। अनेन प्रकारेण त्वं पुनः भौतिकास्तित्वस्य पथोपरि कदापि पथभ्रष्टः न भविष्यति।

[3]यर्हि संसृति बन्धोऽयमात्मनो गुणिवृत्तिदः ।
मयि तु ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम् ॥

आत्मा भौतिकबुद्धेः बन्धने भवति यः प्रकृत्याः मोहमयगुणे व्यस्तं करोति। किन्तु चेतनायाः चतुर्थावस्था जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था सुसुप्तितः परे अहमस्मि। मयि स्थिते आत्मानं भौतिकचेतनायाः बन्धनत्यागः दातव्यः तदा जीवः स्वतः भौतिकेन्द्रियविषयान् त्यक्षति।

[4]यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनात्मनो त्यागी धारयेदचलं मनः ॥

भौतिकसुखार्थं समस्तप्रकारकं प्रयासः कृत्वा निरश्य योगी यदा इन्द्रियान् पूर्णतया नियन्त्रितं कृत्वा विरक्तिं उत्पादयते तदा तम् आध्यात्मिकाभ्यासेन मनः अवचलभावः आध्यात्मिकधरातलोपरि स्थिरः कर्तव्यः।

---

1 श्रीमद्भागवतपुराण एकादश स्कंध अध्याय १३, १४, १५, १६

2 श्रीमद्भागवतपुराण एकादश स्कंध अध्याय १३, १४, १५, १६

3 श्रीमद्भागवतपुराण एकादश स्कंध अध्याय १३, १४, १५, १६

4 श्रीमद्भागवतपुराण एकादश स्कंध अध्याय २०, २२, २६, २९

[1]धार्यमाण मनो यर्हि भ्राम्यदश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥

यदा कदापि आध्यात्मिकधरातलोपरि एकाग्रमनः सहसा स्वपदात् अन्यं चीयात् मनुष्यः तस्मिन् समये स्वबुद्धिना तं वशे कुर्यात्।

[2]मनोगति न विसृजेज्जित प्राणो जितेन्द्रियः ।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥

मनुष्यः मानसिककार्यान् वास्तविकलक्ष्यम् अभिलक्ष्य कदापि पदभ्रष्टः न भवेत् प्रत्युत् इन्द्रियाणामुपरि विजयं प्राप्य सत्वगुणैः सुदृढः बुद्धेः प्रयोगेण मनः वशे कुर्यात्।

[3]दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च, श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः, परो हि योगो मनसः समाधिः ॥

दानः, धर्मः, यमः तथा नियमः, शास्त्राणां श्रवणम्, पुण्यकर्मः तथा शुद्धकर्तृणां व्रतः एतेषां सर्वेषाम् अन्तिमं लक्ष्यं मनसः वशीकरणम्। निःसन्देह परमेश्वरे मनसः एकाग्रतायाः सर्वोच्चयोगोऽस्ति।

श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भागवतपुराणयोः मुख्यविशेषता एषा यत् एते उच्चकोट्याः दार्शनिकग्रन्थाः सन्ति प्रत्युत वेदोपनिषद् समं एते व्यवहारिकसमस्यानां प्रस्तूतयन्ति। एतेषु ग्रन्थेषु निहिताः उपदेशानां व्यवहारिकजीवनैः सहितं निविडसम्पर्कः विद्यते। एतेषु सांसारिक कर्मकरणाय एतादृशः विधयः सन्ति येन मानवमात्रं जीवनस्य समस्तान् कार्यान् कृत्वा भगवान् अथवा मोक्षं सरलतया अधिगतं कृत्वा स्वकीयस्य उद्धारेण सहितं सम्पूर्णलोकानां उन्नतः समृद्धिः तथा दिव्यं कर्तुं सहयोगः दातुं शक्यते। वस्तुतः व्यवहारिकं तथा आध्यात्मिकजीवने दुर्लभः सहयोगः अथवा सामंजस्य अथवा समन्वयः स्थापयति।

भगवद्गीता तथा भागवतपुराणानुसारं स्थितप्रज्ञमनुष्यस्य लक्षणम्, महिमा तथा विशेषता कथनसमये कथ्यते यत् निष्कामकर्म मनुष्यं बन्धनग्रस्तः न करोति। कर्मयोगस्य अभ्यासेन मनुष्यस्य बुद्धौ स्थिरता आगच्छति यं स्थितप्रज्ञता इति कथ्यते, अस्मिन्नेव मनुष्यः मोक्षं प्राप्तुं शक्नोति। निष्कामः कर्मयोगीनं स्थितप्रज्ञः

---

1 श्रीमद्भागवतपुराण एकादश स्कंध अध्याय २०, २२, २६, २९

2 श्रीमद्भागवतपुराण एकादश स्कंध अध्याय २०, २२, २६, २९

3 श्रीमद्भागवतपुराण एकादश स्कंध अध्याय २०, २२, २६, २९

इति कथ्यते। सर्वासु स्थितिषु योगस्थः भूत्वा स्थिरबुद्धिं संस्थाप्य आसक्तिं त्यक्त्वा स्वकर्मकरणमेव योगस्थपुरुषस्य स्थितप्रज्ञता विद्यते। विषमपरिस्थितिषु मानसिकसन्तुलनं स्थितप्रज्ञ अथवा समता वर्तते। मनः प्रसन्नं कर्तुं अभ्यासः अपि स्थितप्रज्ञतायाः साधनमस्ति। प्रसन्नचित्तेन मनुष्ये स्थिरबुद्धित्वस्य समावेशः स्वीयेन भवति। निष्कामकर्मयोगी स्थितप्रज्ञः भूत्वा मनः बुद्धिः इन्द्रियान् संयम्य भयः, इच्छा तथा क्रोधरहितो भवति तथा सुखशान्तिं प्राप्नोति। अनेन प्रकारेण सः स्थितप्रज्ञः तत्त्वज्ञानी परमशान्ति अर्थात् मोक्षं प्राप्यते। गीतायां स्थितप्रज्ञतायाः दशां जीवन्मुक्तः अपि कथितः वर्तते। स्थितप्रज्ञजनः कामनां परित्यज्य आत्मसन्तुष्टो भवति। यः इन्द्रियान् कच्छपवत् विषयेभ्यः उन्मुच्य अंतर्मुखी करोति एषः स्थितप्रज्ञस्य महत्वपूर्णविशेषताऽस्ति।

<u>सन्दर्भग्रन्थाः-</u>

१. श्रीमद्भगवद्गीता, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय- २००२ ।

२. श्रीमद्भागवतपुराण दर्शन, गौतमपटेल नीलम् पटेल, Gujarat Offset Pvt. Ltd.

३. गीतायोगामृत, डॉ. धर्मवीर यादव, किताब महल पब्लिशर्स ।

४. श्रीमद्भगवद्गीता एवं पातंजलयोग, डॉ. माधवी चं द्रा, राघव पब्लिकेशन्म- २००२ ।

५. श्रीमद् एसी भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद, श्रीमद्भागवतम्, एकादश स्कन्ध, भक्तिवेदान्त बुक् ट्रस्ट- २०१८ ।

६. भगवद्रामानुजाचार्यः, श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यम्, संस्कृत संशोधन संसत्- २००८ ।

७. विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र विनय, श्रीमद्भागवततत्वबिन्दु, न्यु भारतीय बुक् कर्पोरेशन्- २००३।

८. प्रो. के. टी पाडुंरङ्गी, श्रीमद्भागवतम् प्रथम सम्पुटन्, Dwaitvedant studies and Research Fundation- 1997.

९. ओम् प्रकाश गुप्त, गीता की प्रासंगिकता, साहित्य प्रचारक ।

१०. श्रीमद्भावत्सुधा-सागर (शुकसागर), गीताप्रेस, गोरखपुर- २००८ ।

संबद्ध साहित्यस्य अंतर्जालानि-

1. https://www.gitasupersite.iitk.ac.in/srimad?
2.https://vivechan.learngeeta.com/vivechan-page/4095
3. https://www.swargarohan.org/geeta-ka-sangeet/02-18
4. https://journal.viterbo.edu/index.phplat/article/view/837

श्रीमद्भगवद्गीतोक्तदिशा कर्मभेदविमर्शः

डॉ.मनोजकुमारसाहुः
सहायकाचार्यः
शास्त्रीयज्ञानप्रणालीविद्यास्थानम् धर्मशास्त्रविद्याशाखा
के.सं.वि., एकलव्यपरिसरः,अगरतला ।

'**डुकृञ्**' करणे इत्यस्माद्धातोः औणादिके '**मन्**' प्रत्यये कृते '**कर्मशब्दः**' निष्पद्यते । सर्वे जीवाः स्वकर्मणि रताः सन्ति । कर्मणः महत्त्वं सर्वेषु धर्मेषु सम्प्रदायेषु च दृश्यन्ते । वैयाकरणकारेण पाणिनिना कर्मणः संज्ञा उक्ता यत् - '**कर्तुरिप्सिततमं कर्म**' । अर्थात् कर्ता यदिच्छति तत्कर्म इत्युच्यते । समुचितकर्मणा उत्तमफलं तथा अनुचितकर्मणा मन्दफलं लभते । कर्म अधिकृत्य विचाराः यद्यपि बहुषु शास्त्रेषु दृश्यन्ते तथापि श्रीमद्भगवद्गीतोक्तविचाराणां महती प्रासङ्गीकता विद्यते । यस्मिन् समये यत्कर्म आगच्छति तत्तु विवेकदृष्ट्या निष्ठापूर्वकं करणीयम् । कर्मानुरुपं फलमवश्यमेव समयानुसारं मिलिष्यति, तत्र सन्देहो नास्ति । युद्धक्षेत्रे स्वजनान् दृष्ट्वा विषण्णस्य अर्जुनस्य मनः परिवर्त्तनाय श्रीकृष्णः गीतां श्रावितवान् । गीतामधिकृत्य सनातनधर्मे पञ्चाशतः अधिकाः संख्यकाः ग्रन्थाः सन्ति यथा उत्तरगीता, अणुगीता, भिक्षुगीतेत्यादयः[1] । तासु श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रसिद्धिः सर्वातीशायी । तत्र अष्टादशाध्यायाः, सप्तशतं श्लोकाश्च सन्ति । प्रत्येकस्याध्यायस्य नाम योगः अस्ति । यथा अर्जुनविषादयोगः, कर्मयोगः, विश्वरुपदर्शनयोगश्चेत्यादयः । श्लोकेषु धृतराष्ट्रेण एकः श्लोकः कथितः, संजयेन चत्वारिंशत्, अर्जुनेन चतुरशीतिः तथा श्रीकृष्णेन पञ्चसप्तत्यधिकपञ्चशतं श्लोकाः कथिताः ।

अस्य ग्रन्थस्य प्रसिद्धिः एतादृशी अस्ति यत् समग्रे विश्वे अशीतिभाषासु त्रिशतादुर्ध्वमनुवादाः दृश्यन्ते[2] । कर्म अधिकृत्य श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वौ योगौ स्तः, यथा तृतीयाध्याये कर्मयोगः, पञ्चमाध्याये कर्मसंन्यासयोगश्च । वेदव्यासप्रणीतस्य महाभारतस्य भीष्मपर्वणः पञ्चविंशाध्यायादारभ्य द्विचत्वारिंशदध्यायं यावत्

---

[1]Quora.com .

[2] तत्रैव

अष्टादशाध्यायेषु गीता विस्तृता अस्ति । इयं गीतोपनिषद् नाम्ना प्रसिद्धिरस्ति । कर्मयोगे निःस्वार्थकर्मणः मार्गविचारोऽस्ति परन्तु कर्मसंन्यासयोगे भौतिकसांसारिकाशक्तित्यागविचारोऽस्ति । कोऽपि जीवः कर्म त्यक्त्वा स्थातुं न शक्नोति । एतदर्थमर्जुनं प्रति श्रीकृष्णस्यादेशोऽस्ति यत् – प्रत्यहं शास्त्रविहितं कर्म आचरणीयं , यतो हि अकर्मणः कर्म तु श्रोष्ठमस्ति । अकर्मणा एव शरीरयात्रा न संभवति । यथोक्तमस्ति तृतीयाध्याये –

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥[1]

कर्माकर्मणोः निर्णये बुद्धिमन्तोऽपि भ्रमे पतन्ति । कर्माकर्म-विकर्मणां स्वरुपमवश्यं बोद्धव्यं स्यात् । यतो हि कर्मणः गतिः गहना अस्ति । यथोक्तमस्ति चतुर्थाध्याये –

कर्मणो हि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥[2]

एतेषां स्वरुपाणि तत्त्वविवेचनीटीकायां विचार्यन्ते । कः कर्म कर्तुं शक्नोतीति शंकायां तत्रैव उक्तमस्ति यत् यः कर्मणि अकर्म तथा अकर्मणि कर्म पश्यति तादृशः बुद्धिमान् मनुष्यः सर्वमपि कर्म कर्तुं शक्नोति । कर्मस्वरूप-भेदविषये वहवः आचार्याः ग्रन्थकाराश्च स्वमतान्युपस्थापितवन्तः । आदौ वैशेषिके सूत्रे कर्मस्वरुपं भेदञ्चोक्तमस्ति यदेकद्रव्यमगुणं संयोग-विभागेष्वनपेक्षकारणं कर्म[3] । एकं द्रव्यम्-एकस्मिन् द्रव्ये विद्यमानम्, अगुणः- गुणाभाववत्, संयोगः – गुणविशेषः, विभागः – गुणविशेषः(चतुर्विंशतिगुणेष्वन्यतमः), अनपेक्षकारणम् – अपेक्षारहितं कारणं नाम असमवायिकारणम् । अर्थात् गुणः एकस्मिन् द्रव्ये विद्यामानो भवति, गुणाभाववान्भवति एवं स्वोत्पत्त्यनन्तरोत्पत्तिकभावभूतानपेक्षमित्यर्थः । अनेन ज्ञायते असमवायिकारणं कर्म भवति । न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यामुक्तमस्ति –

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ।
प्रसारणञ्च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च ॥[4]

---

1. श्री.भ.गी 3/8 ।
2. श्री.भ.गी 4/17 ।
3. वैशे. सू. 1/1/7 ।
4. न्या.सि.मु. कारिका 6 ।

उत्क्षेपणं नाम – ऊर्ध्वदेशसंयोगानुकूलव्यापारः। व्यापारः नाम क्रिया। **अपक्षेपणम्** – अधोदेशसंयोगानुकूलो व्यापारः । **आकुञ्चनम्** – शरीरसन्निकृष्टदेश-संयोगानुकूलो व्यापारः । **प्रसारणम्**- शरीरविप्रकृष्टदेशसंयोगानुकूलो व्यापारः । **गमनम्** – उत्तरदेशसंयोगानुकूलोव्यापारः । **कर्माणि** – कर्मत्वजातिविशिष्टानीति ।

शांकरवेदान्तकोशे उक्तमस्ति क्रियते यत्तत् कर्म । **तद्विविधं** सुकृतं दुष्कृतञ्च । श्रुति-स्मृतिपुराणाद्यनुमोदितं कर्म **सुकृतम्** । श्रुति-स्मृतिपुराणाद्यननुमोदितं कर्म **दुष्कृतम्** । सुकृतं पञ्चविधम् । काम्य-नित्य-नैमितिक-प्रायश्चित्तोपासनाभेदैः । पुनश्च कर्म त्रिविधं यथा प्रारब्धं, सञ्चितं, क्रियमाणञ्चेति । अपि च कर्मकृत्, कर्मक्षयः, कर्मज्ञानसमुच्चयः, कर्मदेवः, कर्मभोगः, कर्मयोगः इत्यादयः विषयाः वर्णिताः सन्ति ।

काम्यम् - फलोद्देश्येन विधीयमानं स्वर्गादीष्टसाधनं ज्योतिष्टोमादि ।

नित्यम् - अकरणे प्रत्यवायसाधनं सन्ध्यावन्दनादि ।

नैमित्तिकम् - पुत्रजननान्तरं विधेयं जातेष्ट्यादि, उपरागे स्नायादिति विधिविहितं ग्रहणस्नानादि ।

प्रायश्चित्तम् - प्रायः पापं विजानियाच्चित्तं तस्यैव शोधनमित्युक्तदिशा पापक्षयमात्रसाधनं चान्द्रायणादि ।

उपासनम् - शास्त्रबोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घकालपर्यन्तं नैरन्तर्योपेतमनोवृत्तिस्थिरीकरणं, सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापाररूपम् ।

प्रारब्धम् – यत्कर्मवशादिह जन्मनि अस्मिन् शरीरे सुखदुःखाद्यनुभूयते ।

क्रियमाणम् – अहर्निशं वर्त्तमानजन्मनि सुकृतदुष्कृतरूपं यत्कर्म कृतं क्रियते च अनारब्धफलम् ।

सञ्चितम्- प्रारब्धक्रियमाणाभ्यामन्यदनारब्धफलं यदेकत्रितं कर्म तिष्ठति । सञ्चितं द्विविधं – सुकृतं दुष्कृतञ्चेति । सुकृतकर्मणा ब्रह्मादिलोकप्राप्तिः, दुष्कृतकर्मणा नरकादिलोकप्राप्तिश्च सर्वविधकर्मणां क्षये मोक्षावाप्तिः । मुक्त्यर्थं कर्मणां न साक्षात्प्रयोजनमिति अद्वैतवेदान्तिनामभिप्रायः ।

कर्मकृत् – आत्मज्ञानम् । कर्माणि कृन्तति छिनत्तीति कर्मकृत् कर्मच्छेदकम् । यः आत्मीयेषु कर्मषु अकर्तृत्वादकर्मत्वं पश्यति, प्रशान्ततया परकृतेषु अकर्मसु पूर्णं स्वात्मकृतत्वं जानाति सर्वेषु स एव वुद्धिमान् साकल्येन कर्म करोति । यस्य सर्वस्मिन् कर्मणि देहेन्द्रियक्रियायामकर्म स्वात्मनि निष्क्रियत्वं श्रोत्रादीनि शब्दादिषु

वर्तन्ते वागादीनि वचनादौ मम किमायातमित्येवं लक्षणं यः पश्येत् , अकर्मणि यः परैः कृते कर्मणि पूजादौ कर्म क्रियां जनयति, एतादृशः कर्ता पूज्यः एव भवति । देहेन्द्रियादिष्वपि कर्तृत्वदर्शनादात्मनि निष्क्रियत्वदर्शनाच्च स कृत्स्नकर्मकृदेव भवति ।

यथोक्तमस्ति गीतायां –

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स वुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥[1]

कर्मक्षयः- सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणरूपत्रिविधकर्मणां नाशः । अप्रवृत्तफलयोः अनारब्धकार्ययोः सुकृतदुष्कृतयोः कर्मणोर्ज्ञानादेव नाशः । आरब्धकार्ययोः प्रवृत्तफलयोः सुकृतदुष्कृतकर्मणोर्भोगाज्ज्ञानादपि नाशः ।

कर्मज्ञानसमुच्चयः - मोक्षस्य साधनविषये वेदान्ते पक्षद्वयमस्ति। शाङ्करादैतवेदान्तिनः केवलं ज्ञानमेव मोक्षाय मन्यन्ते । मूलाविद्यया जातोऽयं सकलसंसारप्रपञ्चो मूलाविद्यानाशेन निवर्तते । कर्मणा सत्त्वशुद्धिस्ततो वैराग्यं ततो कर्मसंन्यासस्ततो ज्ञानं ततो मोक्षः । कर्म केवलमन्तः शुद्ध्यर्थं, मोक्षस्तु ज्ञानादेव । अविद्याबलेनैव शुद्धचैतन्यं ब्रह्म जीवभावेन भाति । अविद्यानाशे मुक्त इत्युच्यते । अत एव तस्मादविद्यास्तमयोः नित्यानन्दप्रतीतितः । निःशेषदुःखोच्छेदाच्च पुरुषार्थो परो मतः । तदुक्तं वार्तिके – अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः । अतः ज्ञानमेव मोक्षकारणम् । अपरे केचन कर्मज्ञानयोः समुच्चयः साहित्यं मुक्तिकारणमिति वदन्ति । अयं वादः कर्मज्ञानसमुच्चयवादोऽथवा ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद इत्युच्यते । श्रीभगवत्पादशङ्कराचार्याणामिदमभिमतं यत् नित्यप्राप्तमोक्षार्थं कर्म अकिञ्चित्करम् ।

कर्मदेवः - देवो द्विविधः यथा कर्मदेवः, आजानदेवश्च । तत्र कर्मदेवः श्रौत्रादिकर्मणा देवत्वं प्राप्नोति । आजानदेवश्च जन्मतः प्रारम्भत एव देवत्वं गतः । यथा – अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मणा ये देवत्वं प्राप्नुवन्ति ते कर्मदिवाः[2] इति बृहदारण्यकोपनिषदि ।

---

1. श्री.भ.गी. 4/18 ।
2. बृ.आ.उ. 4/3/33 ।

कर्मभोगः - प्रारब्धकर्मणा फलभोगः । लौकिकः पामरो जनः सुखदुःखरूपेण भुङ्क्ते, जीवनमुक्तस्तु कर्मफलं भुञ्जानोऽपि अभुञ्जान इव तिष्ठति । यथा अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेण अशनायापिपासाशोकमोहादि-भाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात् परमार्थतो न पश्यति । यथेन्द्रजालमिति । ज्ञनवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिति न पश्यति । सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव इत्यादिश्रुतेः । यथोक्तमस्ति वेदान्तसारे जीवन्मुक्तप्रकरणे –

स सुप्तवज्जागर्ति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः ।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ॥

कर्मयोगः - गीतायां ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्मयोगप्रभृतयोऽनेके योगाः प्रतिपादिताः। तत्र कर्मैव योगः कर्मयोगः । तेन कर्मयोगेन कर्मिणां निष्ठा प्रोक्तेत्यर्थः । कर्मैव योग ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानं घटनरूपं योगार्थत्वात् योग उच्यते । कर्मयोगेन ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणेन फलाभिसन्धिरहितेन तत्तद्वर्णाश्रमोचितेन वेदविहितेन कर्मकलापेन चापरे मन्दाः पश्यन्त्यात्मनीति वर्तन्ते । अन्ये मन्दाधिकारिणः कर्मैव योगार्थत्वगुणेन योगस्तेन कर्मयोगेन ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानेन
सत्त्वशुद्धिश्रवणमननध्यानापरोक्षज्ञानोत्पत्तिद्वारेणात्मन्यात्मानमात्मना पश्यन्तीति । यथा च प्रवृत्त्या लक्ष्यते जायते कर्मयोगः ।

कर्मसमुच्चयः - कर्मज्ञानसमुच्चयः नाम ।

कर्मसमुच्चितज्ञानम् - कर्मणा सह ज्ञानं मोक्षसाधनम् । एतदर्थमयं कर्मज्ञानसमुच्चयः।

कर्माध्यक्षः - कर्मफलप्रदाता । कर्मणां कारयितृत्वेन द्रष्टैव न कर्तेत्यर्थः । इति ब्रह्मसूत्रे[1] ।

कर्माशयः - पुण्यापुण्यकर्मणामाशयः । यथा – क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्यवेदनीयः इति पातञ्जलयोगसूत्रे[2] । अत्र तत्त्ववैशारद्याम् आशेरते

---

1. ब्र.सू. 1/1/4 ।
2. पा.यो.सू 2/12 ।

सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः । धर्माधर्मौ कर्मणामाशयौ । यथा च – सकृत्प्रवृतमेव हि ते कर्माशयमतिवाहयन्तः इति ब्रह्मसूत्रे[1] ।

मनुष्यः मनोवाक्शरीरैः शुभाशुभफलानि प्राप्नोति । एतानि त्रिविधानि कर्माणि तु मनुस्मृतौ वर्णितानि सन्ति । यथा –

परद्रव्येष्वभिधानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥
पारुष्यमनृतञ्चैव पैशुन्यञ्चापि सर्वशः ।
असंवद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥
अदत्तानामुपादनं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥

एतान्यशुभानि सन्ति । कर्मानुसारमशुभानि जन्मानि लभन्ते । यथा कायिककर्मभिः स्थावरजन्मानि, वाचिककर्मभिः पक्षिमृगजन्मानि, तथा मानसकर्मभिः अन्त्यजन्मानि प्राप्यन्ते [2]। गुणानुसारं कर्मभेदाः अपि दृश्यन्ते । गुणाः त्रयः यथा सत्वं, रजस्तमश्चेति । तेषां लक्षणानि मनुना कथितानि यथा-

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥
आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्य्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥[3]

यद्यपि सामान्येन त्रिगुणलक्षणानि मनुना कथितानि तथापि कालस्य भेदानुसारं कर्मणः प्रभावानुसारमपि गुणभेदानि लक्षणानि च दृश्यन्ते । यथा यत्कर्म कृत्वा, कुर्वन्, करिष्यंश्च मनुष्यः लज्जति तत्सर्वं तामसगुणलक्षणमित्युच्यते । येन कर्मणा मनुष्यः लोकेऽस्मिन् पुष्कलां ख्यातिमिच्छति, असम्पत्तौ च न शोचति तद्राजसकर्म इत्युच्यते । मनुष्यः यत्कर्म वेदार्थं सर्वात्मना ज्ञातुमिच्छति,

---

1. ब्र.सू. 3/3/32, शाङ्करवेदान्तकोशः पृ.149-154 ।
2. म.स्मृ 12/5-7,9
3. म.स्मृ 12/31-33

यच्चाचरन् न लज्जति, येनापि तस्य आत्मा तुष्यति तत्सात्त्विककर्म इत्युच्यते । यथोक्तमस्ति मनुस्मृतौ –

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषां सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥
येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यतिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥
यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥
कर्मानुसारं भिन्नाः गतयः भवन्ति यथा-
देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥[1]

शास्त्रभेदानुसारं यद्यपि कर्मभेदानि भिन्नानि सन्ति तथापि धर्मशास्त्रानुसारं धर्मशब्दः कर्मपदेन बोध्यते । धर्मशास्त्रेषु ये ये धर्माः उक्ताः ते तु कर्मभिरेव सिद्धाः भवन्ति । एतदर्थं धर्मः कर्मशब्देन बोध्यते । याज्ञवल्क्यस्मृतेः मिताक्षराटीकाकारस्य विज्ञानेश्वरस्य मतानुसारं धर्मः द्विविधो यथा – श्रौतधर्मः, स्मार्त्तधर्मश्च । श्रुतौ नाम वेदे प्रतिपादितः धर्मः श्रौतधर्मः । श्रौतधर्मे मुख्यतः यागाः अन्तर्भवन्ति । मनोर्मते प्रवृतनिवृत्तभेदेन वैदिककर्म द्विविधम् । स्वार्गादिसुखप्राप्तिकरसंस्कारप्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रवृताख्यं वैदिककर्म तथा मोक्षप्राप्त्यर्थं संसारनिवृत्तिहेतुत्वात् निवृताख्यं वैदिककर्म। अनयोः स्पष्टतया ज्ञायते यत् लोकेऽस्मिन् सकामेन ज्योतिष्टोमादियज्ञरूपककर्म संसारप्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रवृत्तकर्मपदेनोच्यते। अकामेन ब्रह्मज्ञानाभ्यासपूर्वकं संसारनिवृत्तिहेतुत्वात् तत्कर्म निवृत्तकर्मपदेनोच्यते । नरः प्रवृत्तकर्मणा देवजन्म तथा निवृत्तकर्मणा मोक्षं प्राप्नोति । यथोक्तमस्ति मनुस्मृतौ –

सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं निवृतमुपदिश्यते ॥

---

1. म.स्मृ 12/35-37,40 ।

प्रवृतं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यतेति पञ्च वै ॥[1]

स्मार्त्तधर्मः नाम स्मृतौ धर्मशास्त्रे वा प्रतिपादितः धर्मः । विज्ञानेश्वरमते षट्स्मार्त्तधर्माः सन्ति यथा वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः, निमित्तधर्मः, साधरणधर्मश्चेति । ब्राह्मणः नित्यं मद्यं वर्जयेदिति वर्णधर्मः । अग्नीन्धनभैक्षाचर्यादिः आश्रमधर्मः । पलाशदण्डः ब्राह्मणस्येति वर्णाश्रमधर्मः । शास्त्रीयाभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनादिः गुणधर्मः । विहिताकरणप्रतिसिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तं तु निमित्तधर्मः । न हिंस्यात् सर्वभूतानीति आचाण्डालं साधरणधर्मः ।

धर्मशास्त्रशब्दकोशे पण्डितकुलमणिमिश्रमहाभागैः कर्मभेदानि निरुपितानि सन्ति यथा विधेयकर्म, दासकर्म, कृषिकर्म, चित्रादिरचना, पूर्वकृतज्ञेति । दक्षसंहितायां सन्ध्यास्नानं, जपहोमादीनि नवविधेयकर्माणि दृश्यन्ते । यथा -

सन्ध्यास्नानं जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम् ।
वैश्वदेवं तथाऽऽतिथ्यमुद्धृतञ्चापि शक्तितः ॥
पितृदेवमनुष्याणां दीननाथतपस्विनाम् ।
मातापितृगुरूणाञ्च संविभागो यथार्हत ॥[2]

नारदेन स्पष्टीकृतं यत् शुभाशुभकर्मणोः अशुभकर्म तु दासकर्मपदेनोच्यते । यथोक्तं तेन –

कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमेव च ।

अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृतां स्मृतम् ॥
गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम् ।
गुह्याङ्गस्पर्शनोच्छिष्टविड्वुत्रग्रहणोज्झनम् ॥
इच्छतः स्वामिनश्चाङ्गैरूपस्थानमथान्यतः ।
अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभमन्यदतः परम् ॥ [3]

---

1. म.स्मृ 12/88-90 ।
2. दक्षसं. 3/12 ।
3. ना.स्मृ 55/7 ।

कृषिकर्मविषये सर्वे सम्यक् जानन्ति । आपस्तम्बेन विशेषेणोक्तं यत् – 'यथौषधिवनस्पतीनां बीजस्य क्षेत्रकर्मविशेषे फलपरिवृद्धिः'[1] । चित्रकरकर्मणि केषु केषु द्रव्येषु क्षयवृद्धिर्भवतीति जिज्ञासायां याज्ञवल्क्येनोक्तं यत् –

कार्मिके रोमवद्धे च त्रिंशद्भागः क्षयो मतः ।
न क्षयो न वृद्धिश्च कौशेये वाल्कलेषु च ॥ [2]

अत्र 'कार्मिककर्मणा चित्रेण निर्मितामिति ' विज्ञानेश्वरः । अन्तिमे पूर्वकृतं कर्म नाम सुकृतदुष्कृतात्मकम् । यथा सहस्रेषु धेनुषु वत्सः स्वमातरं विन्दति नाम प्राप्नोति तथैव पूर्वकृतं कर्म कर्तारमपि प्राप्नोति । यथोक्तमस्ति विष्णुधर्मोत्तरे –

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारं विन्दते ध्रुवम् ॥[3]
बृहन्नारदीयपुराणेऽप्युक्तमस्ति –
माभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥[4]

कर्मफलभोगः अवश्यं स्यात् तत्र नास्ति सन्देहः । श्रीमद्भगवद्गीतायां कर्म आश्रित्य यद्यपि बहवः विचाराः सन्ति तथापि कर्मभेदोपरि सकाम-निष्कामकर्मणोः, सञ्चित-प्रारब्ध-क्रियमाणकर्मणामपि विषयाः विचार्यन्ते । अत्र सकामकर्म नाम कामनापूर्वकं फलेच्छया क्रियमाणं कर्म । निष्कामकर्म नाम भगवतः उद्देश्येन समर्पितभावनया क्रियमाणं कर्म । सकामकर्मापेक्षया निष्कामकर्मणः महत्त्वमधिकमस्ति । नवमाध्याये श्रद्धया भगवतः कृते समर्पणभावस्तु परमकर्तव्यरूपेण बोध्यते । भगमान् पवित्रकर्तव्यस्याधारोऽस्तीति चतुर्दशाध्याये विचारोऽस्ति । भगवतः अनुकरणमवश्यं करणीयं तथा तस्मै समर्पणभावमवश्यं कर्तव्यमिति तृतीयाध्याये विचारोऽस्ति । कर्मणः फलं भगवतः कृते समर्पणीयमिति अष्टादशाध्याये विचारोऽस्ति । केवलं भगवतः कृते एव कर्म करणीयमिति एकादशाध्याये विचारोऽस्ति ।[5] कर्मणः फलं कदाचित् सञ्चित-

---

1. आ.ध.सू 2/2/4 ।
2. या.स्मृ. 2/280 ।
3. वि.ध.पु. 2/78/27 ।
4. बृ.ना.पु. 29/27 ।
5. श्री.भ.गी. 9/30-31, 14/27, 3/23, 30, 18/6, 11/55 ।

क्रियमाण-प्रारब्धरूपैर्वा आगच्छति । रामायण-महाभारतगदिग्रन्थेषु बहवः दृष्टान्ताः आगच्छन्ति । यथा दशरथ-रावण-धृतराष्ट्र-भीष्मादिचरित्रेषु ज्ञायते । गीतोक्तकर्मभेदैः सह अपरेषां शास्त्राणां समन्वयः क्रियते चेत् दृश्यते मूलविषयाः समाः सन्ति परन्तु विचारशैल्यः भिन्नाः सन्ति । सर्वे जन्तवः प्राणिनश्च स्व-स्व-कर्मणि रताः सन्ति । सनातन-बौद्ध-जैन्य-शिखादिषु सर्वेषु धर्मसम्प्रदायेषु कर्मणः महत्त्वं विद्यते । एतद्दृष्ट्वा केनापि महापुरुषेणोक्तं यत् 'नैष्कर्मणः प्रलोभनन्तु महत्प्रलोभनमस्ति ' । अनेन ज्ञायते जीवाय नैष्कर्मता तु महतीं हानीमानयति । अधुना स्थलविशेषेषु जनाः स्वल्पपरिश्रमेण बहुप्राप्तुमिच्छन्तः कुकर्मणा लिप्ताः भवन्ति । परन्तु तत्र परिणामः भयावहः भवति । कर्मोपरि मात्राधिकाशक्तत्वात् मनसि अवसादभावः आगच्छति । विश्वे अशान्तवातावरणस्य तथा मानवेषु मानसिकासन्तुलनभावस्य एते कारणे स्तः । फलाकांक्षाराहित्येन सुकर्मणा अवश्यमेव मनुष्यः उत्तमरूपेणानन्देन च स्वजीवनं निर्वहर्तुं शक्नोति । यथोक्तमस्ति श्रीमद्भगवद्गीतायां –

कर्मणैवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्महेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥[1] इति ।

सहायकग्रन्थसूची आन्तर्जालसंकेतश्च –

1. आपस्तम्बधर्मसूत्राणि ।
2. दक्षसंहिता ।
3. धर्मशास्त्रशब्दकोशः ।
4. नारदस्मृतिः ।
5. न्यायसिन्धुमुक्तावली ।
6. पातञ्जलयोगसूत्राणि ।
7. ब्रह्मसूत्राणि ।
8. बृहदारण्यकोपनिषद् ।
9. बृहन्नारदीयपुराणम् ।
10. मनुस्मृतिः ।
11. महाभाष्यम् ।
12. याज्ञवल्क्यस्मृतिः ।
13. विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् ।
14. वैशेषिकसूत्राणि ।
15. शांकरवेदान्तकोशः ।
16. श्रीमद्भगवद्गीता ।
17. Quora.com .

---

1. श्री.भ.गी 2/47 ।

श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मप्रबन्धन

सरस्वती मिश्रा
शोधच्छात्रा
ई. मेल – Sarswatim160@gmail.com

शोधसार

आत्मप्रबन्धन विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्यों द्वारा अनुभव की जाने वाली भावनाओं, विचारों तथा व्यवहार को प्रभावी रूप से नियंत्रित करने की योग्यता है । श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षाएँ न केवल व्यक्तिगत विकास और नैतिक दुविधाओं के लिए प्रासंगिक हैं, अपितु आज के समय में प्रभावी प्रबंधन जैसे कि आत्म प्रबंधन के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है । इस शोधपत्र में जिसका कि शीर्षक **'श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मप्रबन्धन'** है विश्लेषण किया गया है कि श्रीमद्भगवद्गीता किस तरह से मानव के लिए, विशेषरूप से युवावर्ग के लिए, अच्छे समाज के लिए, तथा एक संतुलित मानव जीवन के लिए उपयोगी है । इसमें आज के समय में भगवद्गीता कितना प्रासंगिक है और यह किस प्रकार से मनुष्य को आत्म प्रबन्धित होने में एक अच्छे मार्गदर्शक का कार्य करती है, बताया गया है । इस शोधपत्र में श्रीभगवदगीता के श्लोकों के माध्यम से आधुनिक परिदृश्य में आत्म प्रबंधन के व्यावहारिक अनुप्रयोग के बारे में चर्चा की गयी है।

कूट शब्द - गीता, आत्म प्रबन्धन, उपनिषद् , योग, महाभारत।

- **परिचय –**

श्रीमद्भगवद्गीता, एक प्राचीन भारतीय ग्रंथ है, जो आध्यात्मिकता से परे गहन ज्ञान प्रदान करता है। इसमें 18 अध्याय और 700 श्लोक हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिए थे, वही गीता है। इसमें आत्मा, परमात्मा, भक्ति, कर्म, जीवन आदि का वर्णन किया गया है। गीता को भारतीय संस्कृति की आधारशिला कहा गया है। गीता को उपनिषदों का सार माना जाता है। इसमें लिखे गए उपदेशों का पालन करने से जीवन की कठिन परिस्थितियों से लड़ने की शक्ति मिलती है। गीता में कर्म के बारे में कहा गया है -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥[1]

श्रीमद्भगवद्गीता एक अच्छे मानव जीवन के लिए और एक अच्छे समाज के लिए एक प्रतिष्ठित मार्गदर्शन प्रदान करता है । मनुष्य जब से चिन्तन प्रारंभ करता है तभी से वह एक खोज में रहता है अपने बारे में जानने के लिए , मानव जीवन की उत्पत्ति के बारे में जानने के लिए , उसके जीवन का लक्ष्य क्या है, उसे क्या करना चाहिए इत्यादि । श्रीमद्भगवद्गीता एक सार्वकालिक मार्गदर्शक है जो कि किसी भी काल विशेष के लिए न होकर सभी कालों में समान रूप से मनुष्य को मार्गदर्शन प्रदान करता आया है और आगे भी प्रदान करता रहेगा । यह सबके लिए एक कालातीत आधार है । निःसन्देह भगवद्गीता एक अच्छा मानव बनना सिखाता है ।

गीता की भाषा जितनी सरल है, उसके भाव उतने ही गंभीर है। इसके महत्त्व को बताते हुए स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं-

"गीता में हृदयं पार्थ।[2]

जिस तरह वेद को अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरकृत माना जाता है ठीक उसी प्रकार से गीता भी वेद की तरह अपौरुषेय है, क्योंकि वेद के आदेशों को यथारूप में बिना किसी मानवीय विवेचना के स्वीकार कर लिया जाता है उसी प्रकार से गीता को भी बिना किसी तर्क-वितर्क के उसे यथारूप में ग्रहण करना चाहिए। इन सबके अतिरिक्त गीता की सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि यह ग्रन्थ की अपेक्षा वैयक्तिक की अनुभूति पर अधिक बल देती है। गीता किसी भी संप्रदाय विशेष का मान्य ग्रन्थ नहीं है, अपितु यह संस्कृत साहित्य का लोक मान्य अनमोल रत्न रूपी एक धार्मिक ग्रन्थ है। गीता एक ऐसा धर्मग्रन्थ है जिसके अंदर सभी सम्प्रदायों की विचारधारा का समन्वयात्मक समावेश है।

गीता एक ऐसी ज्ञान की गङ्गा है जिसकी विचारधारा में सम्पूर्ण आध्यात्मिक सत्य और उसकी सहज अनुभूतियों की लहरें हमें परिलक्षित होती दिखाई देती हैं, भगवान श्री कृष्ण हैं कहते हैं कि इस संसार में जब भी और जहाँ पर भी धर्म का

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता – 2.47

[2] भारतीय दर्शन – डॉ. जगदीश मिश्र – पृष्ठ संख्या 94

पतन होता है या धर्म का पतन होगा तथा उसके स्थान पर अधर्म अत्यधिक रूप से बढ़ने लगता है तो मैं उस अधर्म को रोकने के लिए अवतार रूप में आता हूँ-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।[1]

आत्मप्रबन्धन – आत्मप्रबन्धन का अर्थ है , अपने विचारों , भावनाओं और व्यवहार को इस तरह से नियंत्रित करना कि मनुष्य अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सके । आत्मप्रबन्धन विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्यों द्वारा अनुभव की जाने वाली भावनाओं, विचारों तथा व्यवहार को प्रभावी रूप से नियंत्रित करने की योग्यता है । इसमें तनाव प्रबंधन, अपने आप को प्रेरित रखना , तथा व्यक्तिगत शैक्षिक और नौकरी संबंधित लक्ष्यों को स्थापित कर उन्हें प्राप्त करने के लिए कार्य करना समाहित है । आत्म प्रबन्धन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम आता है तथा यह जीविका प्राप्त करने तथा सफल जीवन और सम्पूर्ण कल्याण के लिए भी महत्वपूर्ण घटक हो सकता है ।

- **भगवद्गीता में संज्ञानात्मक और भावनात्मक तत्र**

श्रीमद्भगवद्गीता में इंद्रियों के पदानुक्रम के बारे में बताते हुए गीता के तीसरे अध्याय जिसका कि नाम कर्मयोग है, कहा गया है कि इंद्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है, और बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा है। प्रस्तुत श्लोक के माध्यम से श्रीकृष्ण भगवान साधनों में श्रेष्ठता के क्रम की व्याख्या करते हैं-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥[2]

जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, रसना, नाक और मनके माध्यम से ही विषयों अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि का सेवन करता है। चेतन को मूलतः जल के समान माना जा सकता है, जैसे जल में रंग मिला देते हैं, तो उसका रंग बदल जाता है। इसी प्रकार से चेतना भी शुद्ध है, क्योंकि आत्मा शुद्ध है , लेकिन भौतिक गुणों की संगति के अनुसार चेतना जल में रंग की भांति बदल जाती है।

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता – 5.7

[2] श्रीमद्भगवद्गीता – 3- 42

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।[1]

श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग की व्याख्या करते हुए समझाते हैं कि कोई भी व्यक्ति एक क्षण के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता-

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।[2]

आत्मा की भूमिका

आत्मा की भूमिका के बारे में श्रीमद्भगवद्गीता के पंद्रहवें अध्याय जिसका कि नाम पुरुषोत्तमयोग है श्रीकृष्ण कहते हैं कि

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥[3]

मन प्रकृति का हीं उत्पाद है इसको बताते हुए कहा गया है कि

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥[4]

भगवान् श्रीकृष्ण प्रकृति के तीन गुणों के बारे में बताते हुए कहते हैं कि हैं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधते हैं । भौतिक प्रकृति तीन गुणों से युक्त है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब शाश्वत जीव प्रकृति के संसर्ग में आता है, तो वह इन गुणों से बंध जाता है । प्रकृति द्वारा बद्ध किए गए जीव कई प्रकार के होते हैं । कोई सुखी होता है , कोई अत्यंत कर्मठ होता है तो कोई असहाय होता है । इस प्रकार के मनोभाव हीं प्रकृति में जीव की बद्धावस्था के कारणस्वरूप हैं । सत्त्वगुण के बारे में बताते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥[1]

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता – 15- 9

[2] श्रीमद्भगवद्गीता – 3-5

[3] श्रीमद्भगवद्गीता –15-9

[4] श्रीमद्भगवद्गीता – 7-4

उन तीनों गुणों में सत्त्वगुण तो निर्मल होने के कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है,वह सुख के सम्बन्ध से और ज्ञानके सम्बन्ध से अर्थात् उसके अभिमान से बाँधता है, किन्तु रजोगुण की उत्पत्ति असीम आकांक्षाओं तथा तृष्णाओं से होती है और इसी के कारण से यह देहधारी जीव सकाम कर्मों से बंध जाता है। रजोगुण के बारे में इस प्रकार कहा गया है -

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥[2]

अर्थात् रागरूप रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न जानना चाहिए। वही इस जीवात्मा को कर्मों और उनके फलों के साथ बाँधता है। वहीं तमोगुण के बारे में इस प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया है कि

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥[3]

अर्थात् सब देहाभिमानियों को मोहित करनेवाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न जानना चाहिए, क्योंकि वही इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के साथ बाँधता है। फिर तीनों गुणों के बारे में बताते हुए कहा गया कि-

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥[4]

सत्त्वगुण की अभियक्ति को तभी अनुभव किया जा सकता है, जब शरीर के सारे द्वार ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हों । रजोगुण में वृद्धि होने पर अत्यधिक आसक्ति, सकाम कर्म उत्पन्न होता है । वहीं जब तमोगुण में वृद्धि हो जाती है तो जड़ता, प्रमत्तता तथा मोह का प्राकट्य होने लगता है । निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि सत्त्वगुण से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है , रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है, तथा तमोगुण से अज्ञान, प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है । इसी को लक्षित करते हुए गीता में कहा गया है -

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता – 14-6

[2] श्रीमद्भगवद्गीता – 14-7

[3] श्रीमद्भगवद्गीता – 14-8

[4] श्रीमद्भगवद्गीता – 14-9

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।[1]

मन पर नियंत्रण

मनुष्य का मन नियंत्रित नहीं रहता है उसके पीछे कई कारण हैं जिसमें कि प्रथम है भ्रम। मनुष्य भ्रम में पड़ा रहता है कि यह अपना है, यह पराया है, और इसी के कारण उसे विषाद होता है जिससे कि वह अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाता है । वह निर्णय नहीं ले पाता है कि क्या सही है और क्या गलत । इसी बात को महाभारत में दिखाया गया है कि जिस प्रकार मोह में पड़कर अपने भतीजों को पराया और दुर्योधन को अपना मानकर पथ से भ्रष्ट हुआ धृतराष्ट्र यदि चाहता तो युद्ध टाल सकता था किन्तु पुत्रमोह में पड़कर गलत निर्णय लेता है। इसी मोह में पड़कर अर्जुन क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध नहीं चाहता है । वह कहता है कि यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ निहत्थे तथा रणभूमि में प्रतिरोध न करने वाले को मारे तो यह मेरे लिए श्रेयस्कर होगा। मनुष्य के लिए सबसे बड़ी दुविधा यही है कि वह नहीं जानता कि आगे जो वो करने वाला है उसमें उसकी जीत होगी या नहीं, वह कार्य जिसको वह करना चाहता है उसके लिए श्रेयस्कर है या नहीं । इसी दुविधा को बताते हुए अर्जुन कहता है कि

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।।[2]

मनुष्य भ्रम में पड़कर उचित और अनुचित में भेद करने में समर्थ नहीं हो पाता है । श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो इस कृष्णभावनामय मार्ग पर चलते हैं वे प्रयोजन में दृढ़ रहते हैं और उनका लक्ष्य भी एक होता है , किन्तु जो दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं हैं उनकी बुद्धी अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है और इसी कारण वे उचित निर्णय लेने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। उनमें इंद्रिय भी एक कारण है । आसक्ति का नाश न होने के कारण ये प्रमथनस्वभाव वाली इंद्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी हर लेती है । इसी का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है –

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।[3]

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता – 14-17

[2] श्रीमद्भगवद्गीता – 2-6

[3] श्रीमद्भगवद्गीता – 2-67

अर्थात् जैसे जल में चलनेवाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इंद्रियों में से मन जिस भी इन्द्रिय के साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धी को हर लेती है । अर्जुन के पूछने पर कि यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाए हुए की भांति किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है का उत्तर देते हुए कहते हैं कि

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥[1]

अर्थात् रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। जिस प्रकार धुएं से अग्नि और मैल से दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है वैसे हीं काम के द्वारा यह ज्ञान ढक जाता है। अतः मनुष्य को काम क्रोध तथा लोभ को त्याग देना चाहिए क्योंकि ये हीं नरक के द्वार होते हैं अर्थात् मनुष्य को अधोगति में ले जाने वाले होते हैं ।

मन को नियंत्रित करने के उपाय

मन को नियंत्रित करने के उपायों के बारे में बताते हुए गीता में कहा गया है कि ध्यान करते समय बहुत सी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है क्योंकि मन बहुत चंचल है । इसको वश में करना वायु को रोकने की भांति अत्यंत दुष्कर है । इसी को लक्ष्य करते हुए गीता में इस प्रकार कहा गया है -

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥[2]

इसीलिए अभ्यास के द्वारा हीं ऐसा करना संभव है -

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥[3]

मन को नियंत्रित करने की विधियाँ

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता – 3-37

[2] श्रीमद्भगवद्गीता – 6-36

[3] श्रीमद्भगवद्गीता – 6-35

मन को वश में करने की विधि बताते हुए षष्ठ अध्याय जिसका कि नाम ध्यानयोग है में कहा गया है कि शुद्ध भूमि में, जिसके ऊपर क्रमशः कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा हो, ऐसे अपने आसन को स्थिर करके, उस आसन पर बैठकर चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तः करण की शुद्धि के लिए व्यक्ति को योग का अभ्यास करना चाहिए । व्यक्ति को काया, सिर और गले को समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओं की ओर न देखता हुआ, भयरहित तथा शान्त अन्तःकरण से युक्त होकर मन को रोककर ईश्वर में चित्तवाला होने का प्रयास करना चाहिए।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥[1]

पुनः श्रीकृष्ण कर्म की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥[2]

अर्थात् शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों को करना चाहिए क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होता है । कर्म के विषय में उपनिषदों में भी कहा गया है

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।[3]

मन पर आहार अर्थात् भोजन का प्रभाव भी सीधा पड़ता है । इसीलिए ऐसा भोजन करना चाहिए जो आयु, बुद्धी, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से हीं मन को प्रिय लगने वाला हो । कडवे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे , दाहकारक भोजन नहीं लेना चाहिए क्योंकि ये दुःख तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार होते हैं। वहीं जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गंधयुक्त, बासी और उच्छिष्ट हों वे तो पूर्ण रूप से अपवित्र होते हैं । उन्हे तो कदाचिद् ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है ।

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता – 6-14

[2] श्रीमद्भगवद्गीता – 3-8

[3] ईशावास्योपनिषद – 2

शारीरिक व मानसिक अनुशासन

शारीरिक व मानसिक अनुशासन व्यक्ति के लिए बहुत आवश्यक है। शारीरिक अनुशासन को बनाए रखने के लिए मनुष्य को देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन करना चाहिए, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना चाहिए इसी को लक्ष्य करते हुए गीता में कहा गया है कि -

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।[1]

वाणी-सम्बन्धी तप के बारे गीता में इस प्रकार कहा गया है -

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।[2]

मनसम्बन्धी तप के बारे में इस प्रकार कहा गया है -

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥[3]

शारीरिक, मानसिक व वाणी सम्बन्धी अनुशासन के लिए उपरोक्त दिए गए कर्मों को करने से मनुष्य अपने आपको नियंत्रित करने में समर्थ हो पाएगा । अतः किसी भी मनुष्य को उपरोक्त दिए गए कर्मों को करना चाहिए ।

आत्म प्रबन्धन हेतु भक्तिमार्ग

भक्ति अर्थात् ईश्वर की भक्ति, मनुष्य जो भी कर्म करे वो सब भगवान को अर्पण कर दे, ऐसे सन्यासयोग से युक्त चित्तवाला शुभाशुभ फलरूप कर्मबंधन्धन से मुक्त हो जाएगा और उनसे मुक्त होकर भगवान को हीं प्राप्त होगा । जो मनुष्य नैतिक गुणों का अर्जन करके, द्वेषभाव से रहित होकर, स्वार्थरहित, अहंकार से रहित, सुख- दु:खों की प्राप्ति में समान एवं क्षमावान होता है तथा जो मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में करके ईश्वर में दृढ़ निश्चयवाला हो जाता है। इसमें कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता –17-14

[2] श्रीमद्भगवद्गीता – 17-15

[3] श्रीमद्भगवद्गीता – 17-16

नहीं होता है, जो निन्दा स्तुति को समान समझने वाला, ममता और आसक्ति से रहित होकर , सबको समान रूप से देखने के कारण अपने व पराए में भेद नहीं करता है, उसकी बुद्धि निर्मल और स्वच्छ हो जाती है । वह सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्मनिष्ठ हो जाता है ।

निष्कर्ष-

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि श्रीमद्भागवद्गीता आज के समय में सभी मनुष्यों के लिए विशेष रूप से युवावर्ग के लिए बहुत हीं उपयोगी तथा प्रासंगिक है। जहां एक ओर मनुष्य मोहवश या अज्ञानवश या अन्य कारणों से जैसे अत्यधिक चिन्ता या भयवश, अपने मन पर नियंत्रण नहीं कर पाता है, विषयों की ओर भागता है, अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाता है तथा अनुचित निर्णय ले लेता है वहीं यदि वह श्रीमद्भगवद्गीता में बताए मार्ग पर चले जिसमें कि उचित आहार, ध्यान, शारीरिक व मानसिक अनुशासन की विधियाँ बताई गई हैं तो वह अपने मन को नियंत्रित कर पाएगा। इसके अतिरिक्त यदि व्यक्ति ये सब करने में पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हो पा रहा हो तो वह यदि अपने सभी कार्यों भगवद् भावना में रहकर करे अर्थात् अपने सभी कर्मों को ईश्वर को अर्पण कर दे तो व्यक्ति सभी प्रकार के बन्धन से मुक्त होकर बिना किसी भ्रम, भय या चिन्ता के उचित निर्णय ले पाएगा। वह सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने मन पर नियंत्रण करने में समर्थ हो पाएगा तथा आत्मनिष्ठ हो पाएगा अर्थात् सुचारु रूप से आत्मप्रबंधन कर पाएगा ।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची –

1. श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामि प्रभुपाद, श्रीमद्भगगीता यथारूप, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित।
2. आचार्य महामण्डलेश्वर श्री 108 महेशानन्द गिरी, ईशावास्योपनिषद्, श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन,वाराणसी 221010
3. डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी 221001

श्री मद्भागवत गीता में सांख्य के तत्वों का विवेचन

काशीराम
शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद दुःखभागभवेत्।।[1]

सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में श्रीमदभगवद्गीता का अति महत्वपूर्ण स्थान हैं। यह भगवान श्री कृष्ण के मुखारविन्द से निकला सुधारूपी गीत काव्य हैं **"यास्वयं पद्मनाभसथ मुखपद्माद्विनिः सृता"** इसलिये इस दिव्य ग्रन्थ का नाम **श्रीमद्भगवद्गीता** हैं। यह महार्षि वेदव्यास द्वारा विरचित महाभारत रूपी सागर का अमृत हैं- **"भारतामृतर्स्वस्वम्"।** भगवान श्री कृष्ण भगवान ने कुरूक्षेत्र की युद्व भूमि में मोहवश अपने धर्मयुद्व रूपी कर्म से विमुख हुये अुर्जन को जो उपदेश दिया हैं वह किसी धर्म, जाति व समुदाय के लिये नहीं हैं। अपितु यह तो मानवमात्र के लिये हितकर एकअद्भुत संदेश हैं । गीता मानव को अपने अपने कर्म में प्रवृत करने की सत्प्रेरणा देती हैं। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ १८ अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय अपने भीतर नवीन विषय और नवीन दर्शन समाहित किए हुए हैं। मुख्य शब्द - सांख्य योग, आत्मतत्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन, कर्मयोग स्वरूप अर्चस, कर्त्ता, ब्राही स्थिति श्री मद्भगवत् गीता का विषय के साहित्य में ऊचा स्थान हैं। गीता समस्त शास्त्रों का सार हैं। यह व्यवहारयोग और कतर्त्यशास्त्र की सबसे बडी खान हैं। यह भारत का राष्ट्रीय धर्म ग्रन्थ हैं।गीता में ज्ञान कर्म और भक्ति की

---

[1] वृहदारण्यक् उपनिषद

त्रिवेणी समान्तर रूप से प्रवाहित हो रही हैं। महाभारत के १८ पर्वो में गीता ने जो ख्याति प्राप्त की हैं। वह विश्व में दुलर्भ हैं। यह एक ऐसा ग्रन्थ हैं जिसे सवर्धा सत्य मानकर लोग इस पर हाथ रखकर सत्य की सौगन्ध खाते हैं। महार्षि कृष्ण भगवान द्वैपायन वेद व्यास विलिखित योगिराज श्री कृष्ण भगवान प्रोक्त यह ग्रन्थ अनुपम एवं अद्वितीय हैं। इसमें कहीं कर्म योग, कहीं ज्ञान योग, कहीं ध्यान योग कहीं भक्ति योग तथा कंही संख्य योग में मौक्तिक यन्त्र-तन्त्र बिखरे हुये हैं। इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य दोनों सेनाओं के मध्य अर्जुन को हुये शोक विशाद का निवारण तथा संसार की सत्यता का दर्शन, शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के यर्थाथ स्वरूप का भान करवा रहा हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का द्वितिय अध्याय **"सांख्ययोग"** हैं। इस अध्याय में शरणागत अर्जुन द्वारा अपने शोक की निवृति के लिये एकान्तिक उपाय पूछे जाने पर भगवान श्री कृष्ण भगवान ने आत्मतत्व का वर्णन किया हैं। सांख्ययोग के साधन में आत्मतत्व का श्रवण मनन निदिध्यासन ही मुख्य हैं। यधपि इस अध्याय में स्वधर्म का वर्णन करनके कर्मयोग स्वरूप भी समझाया गया हैं। परन्तु उपदेश का आरंभ सांख्ययोग से ही हुआ हैं।

तीनों गुणों का विवेचन-

वेद सत्व ,रज,तम इन तीनों गुणों के कार्यों को त्रैगुण्य् कहते हैं जो सारे भोगों तथा उनके साधनों का प्रतिपादन करने वालें हैं । इसीलिये मनुष्य को भोगों एवं उनके साधनों में आसक्ति से रहित हर्ष्- शोक आदि द्वन्द्वों से परे नित्य वस्तु परमात्मा में लीन रहने वाला योग और क्षेम की लालसा से रहित तथा जितेन्द्रय बनना चाहिये ।

त्रैगुण्यविषय वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान[1] ॥

मनुष्य का चारों ओर जल से भारे विशाल तालाब के प्राप्त हो जाने पर छोटे जालाशय में जितना प्रयोजन रहता हैं ब्रह्म तत्व को जानने वाले ब्राह्मण का भी सभी वेदों में उतना ही रहता हैं।

यावार्थ उदापाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥[1]

---

[1] गीता २.४५

इसी तरह पूर्ण परमानन्द परमात्मा की प्राप्ति हो जाने पर व्यक्ति को संसारिक सुख के साधन भूत वेदों के अंशो की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती हैं वह पूर्ण निस्त्रैगुण्य् हो जाता हैं ।

आत्मा के स्वरूप का विवेचन-

न जायते मियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे[2] ।।

यह आत्मा किसी भी काल में न जन्म लेता हैं न मरता हैं। अथवा न होकर फिर होने वाला हैं। यह आत्मा तो अजन्मा नित्य, शाश्वत और पुरातन हैं जैसे इस शरीर में कुमारावस्था, युवावस्था और जरावस्था आती हैं वैसे ही आत्मा एक शरीर के बाद दूसरा शरीर बदलती रहती हैं श्री कृष्ण भगवान अर्जुन को समझाते हैं कि तु युद्व क्षेत्र में भीश्मादि को देखकर दुखी मत हो, यदि युद्व में ये मर भी जायेगें तो केवल शरीर नश्ट होगा, उसमें विधमान आत्मा नहीं क्यों कि आत्मा जन्म मरण के धर्म से रहित हैं । यह जन्म न लेने वाला सदैव रहने वाला तथा अत्यन्त पुरातन हैं

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा,
तथा देहान्तर प्राप्ति धीरस्तत्र न मुह्याति।।[3]

जब जीवात्मा जन्म लेता हैं तो इस शरीर में प्रकार के बदलाव आते हैं जैसे बालकपन, युवावस्था और वृध्दावस्था तीन अवस्थायें हैं। इसमें शरीर बदलता हैं आत्मा नहीं इस प्रकार देहान्तर की प्राप्ति एक चौथी अवस्था हैं इसलिये बुद्विमान इसमें धोखा नहीं खाता हैं । क्योकि **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।[4]** जन्म लेने वाले कि मृत्यु निश्चित हैं ।

यं हि न व्ययन्येते पूरुष पूरुषर्ष्भ।
समसुख दख धीर सोऽमृतवाय कल्पते।।[5]

---

[1] गीता २.४६
[2] गीता २.२०
[3] गीता २.१३
[4] गीता २.२७
[5] गीता २.१५

अर्थात जिस धीर पूरुष ने अपने आपको सुख दुख दोनों अवस्थाओं में समान रखना सीख लिया हैं उसने पूर्वोक्त श्लोक में वर्णित मात्रा स्पर्शादि व्यथित नहीं कर सकते तथा वही व्यक्ति अमृत पदवी पाने में समर्थ होता हैं। जो मानव सब कामनाओं को छोडकर स्पृहा हित होकर ममता रहित तथा अंहकार रहित होकर विचारता हैं वही शान्ति पाता हैं यथाः

ईशा वास्यमिदंसर्व यत्किच जगत्यां जगत्।
तेन यक्तेन भुस्जीया भागृध कस्यस्विद् धनभ्[1]।।

ईश्वर भक्त सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि वे यज्ञ में अर्पित किये भोजन को ही ग्रहण करते हैं। अन्य लोग जो अपने निमित इन्द्रियसुख के लिये भोजन ग्रहण करते हैं वे निश्चित रूप से पाप खाते हैं।

सुख दुःखे समें कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्वाय युज्यस्व नैंव पापमवाप्सयासि[2]।।

श्री कृष्ण भगवान अर्जुन से कहते हैं कि युद्व होगा तो जय होती हैं अथवा पराजय हो, जय से लाभ और पराजय से हानि होती हैं। लाभ से सुख और हानि से दुख होता हैं। परन्तु तुम्हें सुख-दुख, जय-पराजय में समभाव रखता हुआ क्षत्रियधर्मानुकूल युद्व करने पर तू पाप का भागी नहीं बनेगा।

मोधमन्न विन्दते अप्रचेता सत्य ब्रवीमि वध इत सतस्त ।
नार्यमंण् पुष्यति नो सखायं केवलाधो भवति केवलादी[3] ।।

अर्थात संसार में जो अकेला अन्य का उपभोग करता हैं वह मूढ़ पापपूर्ण अन्न का ही सेवन करता हैं जो अन्न भाग से न राजा को पुश्ट करता हैं और न ही समय पर मित्र की सहायता करता हैं। वह केवल पाप का ही सेवन करता हैं। यह सत्य हैं कि उसका विनाश निश्चित हैं।

मन के स्वरूप का विवेचन-

कहा भी गया हैं कि मन से संयुक्त एक ही इन्द्रिय साधक की बुध्दि को भटका देती हैं तो फिर सारी इन्द्रियों का क्या कहा जायें-

---

[1] ई.श. उपनिषद् १.१

[2] गीता २.३८

[3] ऋ०१०११७.६

इन्द्रियाणा हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावामिवाभ्भसि ॥[1]

जल में जैसे वायु नौका को हर ले जाती हैं वैसे हि विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों में से जिस के साथ मन जुडा रहता हैं , वह एक ही इन्द्रिय इस बुध्दि का हरण कर लेती हैं।

बुद्धि के स्वरूप का विवेचन-

सम बुध्दिवाला व्यक्ति अर्थात निष्कामकर्म योगी पुण्य और पाप- दोनों को इसी लोक में त्याग देता हैं। इसीलिये मनुष्य को समतत्व योग में लग जाना चाहियें क्योकि योग कर्मों में कुशलता हैं।

बुध्दियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥[2]

और भी कहा गया हैं कि - जिस समय मनुष्य की बुध्दि मोहरूप के दलदल को भलि-भाँति पार कर जायेगी ,उस समय मनुष्य सुने हुए तथा सुनने योग्य इस लोक तथा परलोक समबन्धी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाओगे।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥[3]

इस प्रकार जब स्थिर प्रज्ञबुध्दि जब फिर से मन को निश्चिय में सच्चिदानन्द मय परमात्मा से भिन्न और कोई वस्तु नही हैं इसका ज्ञान कर लेती हैं तब मोह मुक्त हो जाती हैं।

अहंकार के स्वरूप का विवेचन –

अहंकारी मनुष्य शरीर को आत्मा से भिन्न नही मानता हैं और वह शरीर के दुःखो को आत्मा का दुःख मानता हैं और जो व्यक्ति अहंकार भावना से रहित रहता हैं वह ही परमात्म तत्व को प्राप्त करता हैं यथा -

---

1 गीता २.६७

2 गीता २.५०

3 गीता २.५२

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥[1]

जो मनुष्य सभी कामानओं को छोडकर ममताशून्य अहंकाररहित और स्पृहाविहीन होकर विचरण करता हैं, वह शान्ति को प्राप्त करता हैं ।

कर्म के स्वरूप का विवेचन –

गीता अपने कर्म से च्युत मनुष्य को ज्ञान का उत्कृष्ट उपदेश देती हैं। गीता कहती हे कि शरीर नश्वर हैं तथा इसमें विद्यमान आत्मा अजर, अमर तथा अविनाशी हैं। अत : देह के प्रति आसक्ति का त्याग कर आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिए क्यों कि इससें ही परम शान्ति प्राप्त होती हे।

सर्वधर्मान् परित्यन्य मामेंकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[2]

सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेंरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर । इस प्रकार गीता में कर्म भक्ति और ज्ञान का अद्भुत समन्वय हैं। तीनों ही मार्ग एक दूसरे के पूरक हैं।गीता के महत्व के विषय में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने गीता रहस्य में लिखा हैं। भक्ति और ज्ञान का मेंल कराके, इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने वाला और इसके द्वारा संसार से दुखित मनुष्यों को शान्ति देकर, निष्काम कर्तव्य के आचरण में लगा देने वाला, गीता के समान बालबोध ग्रन्थ, संस्कृत की कौन कहे, समस्त संसार के साहित्य में नहीं मिल सकता हैं ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलेहतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि[3] ।।

अर्थात कर्म करने में ही तेरा अधिकार हैं फल में नहीं इस गीता के श्लोक का आर्विभाव साक्षात वेद से ही प्रतीत होता हैं जैसा कि यर्जुवेद का कथन हैं। कि -

---

1 गीता २.७१

2 गीता १८.६६

3 गीता २. ४७

कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजिविशेच्छतं समां ।[1]

अर्थात हे मानव तू उतम यजादि कर्म करते हुए सौ वर्श जीने की इच्छा कर यही तेरे लिये उचित हैं। इससे भिन्न मार्ग तेरे लिये उचित नहीं हे। इस प्रकार का जीवन जीत हुये तुझमें कर्मो का लेप अर्थात बन्धन नही होगा। वेद बिना जाति भेद वर्णभेद के सबके लिये संगठन की बात करता हैं वेद भी गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था की बात करते तथा गीता में श्री कृष्ण भगवान भी साक्षात गुण कर्म स्वभाव के अनुसार वर्ण स्थापना की स्वीकार करते हैं इन्हीं सामानताओं के आधार पर गीता को गीतोपनिषद् के नाम से जाना जाता हे गीता मनुष्य का ध्यान कर्म पर केन्द्रित करता हैं परन्तु साधारण व्यक्ति अपना ध्यान कर्मफल पर केन्द्रित रखते हैं परिणाम यह होता हैं कि कर्म पर पूरा ध्यान केन्द्रित न होने के कारण कर्म अधूरा रह जाता हैं जिसके परिणामस्वरूप फल भी अधूरा रहा जाता हैं। इसलिये फलासक्त मनुष्य दुःख अशान्ति और मानसिक दबाव में डुबकर अपना जीवन नरक बना लेता हैं। जब कि निष्काम कर्म करने वाले व्यक्ति के जीवन में कुछ विशेषताएं पैदा हो जाती हैं। जब मनुष्य निष्काम भाव में होता हैं। तब फल का लोभ न होने से वह बुरे काम कर ही नहीं पाता। सत्कर्म और दुष्कर्म से उपर उठ जाता हैं। सकाम व्यक्ति अच्छा फल पाने के लिये अच्छा कर्म करता हैं परन्तु निष्काम व्यक्ति की ऐसे सत्कर्म में कोई आसक्ति नहीं होती ।

वह तो अपने कर्तव्य कर्म को ही पूर्ण कुशलता और पूर्ण उर्जा के साथ करता हैं। कर्मफल त्याग का अर्थ कर्म का त्याग नहीं अपितु कर्म को और भी अधिक कुशलता और चतुराई से करना हैं। इसे ही गीता में **"योगः कर्मसु कौशलम्"** कहा गया हैं।

परमात्मतत्व के स्वरूप का विवेचन -

गीता की तरह ही उपनिषदों में भी परामात्म तत्व प्राप्ति का साधन पुविपासना को बताया गया हैं। कठोपनिषद् में कहा गया हैं यह औंकार ही ब्रह्म हैं, नित्य हैं सनातन हैं। **"आत्मा रथिनं विद्विण् शरीर रथः बुद्वि सारथी, इन्द्रियाणि अश्वाः मनः प्रगृहः शब्दस्पर्शादयोः विषयाः"** इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा विषय की भोक्ता हैं। शरीर रथ हैं। बुद्वि सारथी हैं जैसे हि शुध्द जल में डाला हुआ जल

---

[1] शुक्लयजुर्वेद ४०.०२ ,ईशा.०२

पवित्र होता हैं । जीवात्मा और परामात्मा शुद्व व एकरूप होते हैं । आत्मा का नगर द्वारों वाला हैं,मनुष्य के शरीर में ९ द्वार हैं। आत्मा आकाश में आदित्य रूप में, अंतरिक्ष में वस्तु में, यज्ञवेदी में अग्नि रूप में कलश में सोमरूप में प्राणादि रूप में देवताओं में चैतन्य रूप में, आकाश में गृह नक्षत्रादि रूप में, यज्ञ में ऋत्विक रूप में अवस्थित हैं गीता अनासक्त भाव से मनुष्य को कर्म करने की सलाह देती हैं । फलतः त्याग कर तथा उत्सर्ग की भावना अपनाकर ही कोई मनुष्य अपने को शुद्व कर सकता हैं। मनुष्य के रक्त में मनुष्य के हदय को निर्मल बनाने की क्षमता नहीं हैं, पर मन की वासनाओं का परित्याग कर कोई भी व्यक्ति अपने हदय को पवित्र बना सकता हैं। देहिक प्रलोभनों पर जो जितना अधिकारी विजय पाता हैं। वह उतना ही लक्ष्य के निकट पहुंचता हैं। लक्ष्य का तात्पर्य निष्काम कर्म से हैं। निष्काम कर्म के भी लक्ष्य हैं। आत्मलाभ और ईश्वरप्राप्ति। आत्मलाभ से तात्पर्य हैं ब्राही स्थिति की उपलब्धि हैं कर्मयोग की यह स्वोत्कृष्ट उपलब्धि हैं। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।

एषा ब्राही स्थितिः पार्थ नैना प्राप्य विमुञ्चति ।
स्थित्वास्थामन्तकालेऽपि ब्रहानिर्वाणमृच्छति ॥[1]

इसी तरह ईश्वर प्राप्ति का अर्थ हैं -ईश्वर के सामीप्य की अनुभूति गीता में श्री कृष्ण भगवान का कथन हैं कि जीवन के अन्त में जो केवल ईश्वर का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता हैं वह शीघ्र ही ईश्वरत्व के स्वभाव को प्राप्त करता हैं। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए। श्री कृष्ण भगवान अर्जुन से कहते हैं कि ब्रहा ज्ञान की दशा में मोह या अज्ञान समाप्त हो जाता हैं और अन्त में ब्रह्मानन्द प्रदान करने वाली मुक्ति मिलती हैं

उपसंहार-

अतः इस प्रकार हम देख सकते हैं कि श्री मद्भागवद गीता में सांख्य के तत्वों के स्वरूप का उल्लेख प्रमुख रूप से दिखाई देता हैं जिसमें सांख्यतत्व के सभी स्वरूप का वर्णन किया गया हैं कृष्ण जी कहते हैं कि आत्म का शरीर के साथ एक निश्चित समय तक साथ रहती हैं और वह भी अपने शरीर कर्म के अनुरूप फ़ल भोगता रहता हैं और फल प्राप्त हो जाने पर शरीर त्याग देती हैं ।

---

[1] गीता २.७२

श्रध्दावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेद्रिय ।
ज्ञान लब्धवा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥[1]

गीता का उपदेश हैं कि मनुष्य जो भी कर्म करे, वह ईश्वर को समर्पण करके करे। परमात्मा की शरण में पहुंचकर व्यक्ति पापमुक्त होकर परम शान्ति को प्राप्त करता हैं । इसीलिये हमें कभी भी अपने धन धौलत पर अहंकार नहीं करना चाहिये क्योकि कहा भी गया हैं ।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो,लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु में वरणीयः स एव ॥[2]

मनुष्य की संतुष्टी धन से नहीं होती हैं इसी धन के चकर में आत्म तत्व की प्राप्ति भूल जाता हैं और मानव अपना सेवा धर्म भी त्याग देता हैं । अतः मानव को आत्म ज्ञान का चिन्तन आवश्यव करना चाहिये यही मुक्ति का साधन हैं।

सन्दर्भ सूची -

- १ .श्रीमद्भगवद् गीता, २.१३ श्रीमद्भगवद्गीता, २.७२,ऋग्वेद- १०.११७.६
- २.श्रीमद्भगवद् गीता, २.१३ श्रीमद्भगवद्गीता, २.२०,यजुर्वेद ४०.२
- ३.ईशावास्योपनिषद् १.१ श्रीमद्भगवद्गीता, २.१५
- ४. कठोपनिशद् १.१.७ यजुर्वेद, ११.८३

कोश ग्रन्थ -

- अमरकोश "नारायण" अमरसिंह विरचित चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी १९९५
- अष्टाध्यायीसूत्रपाठ मिश्र "श्रीनारायण" पाणिनी गोकुलदास संस्कृतग्रंथमाला वा. ७१
- शब्दकल्पद्रुम बहादुर "राजाराधाकान्तदेव" ,मोतीलाल बनारसी सं दिल्ली १९६१
- संस्कृत हिन्दी कोश आप्टे "वामन शिवराम", रचना प्रकाशन चाँदपोलजयपुर २००५

अन्तर्जालीय स्त्रोत-

- www.docs.google.com
- www.lib.du.ac.in
- www.lib.jnu.ac.in
- www.sanskritbhasi.blogspot.com
- www.sanskrit.nic.in

---

[1] गीता ४.३९

[2] कठोपनिषद् १/२७

श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत में भक्ति

ममता प्रधान
साहित्य विभाग (शोधार्थिनी)
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली- 110016

शोध संक्षेप

भक्ति कोई रहस्यमयी उपहार नहीं है, इसे निरन्तर प्रयास से दोषित किया जा सकता है, सच्ची भक्ति भक्त के मन की वह अवस्था है जब वह भगवान की शरण से एक क्षण का भी वियोग सहन, नहीं कर पाता और जब परिस्थितियों के कारण उसे बलपूर्वक उस शरण से हटा भी दिया जाता है, तो वह संघर्ष करके पुनः भगवान से जुड़ जाता है, जैसे चुम्बक से सुई जुड़ जाती है। भक्त वह है, जो द्वेषरहित हो, दयालु हो, सर्वारभ परित्यागी है, मननशील हो और हर परिस्थिति में खुश रहने का स्वभाव बनाए रखे। भक्ति शब्द 'भज्' धातु से आयी है। जिसका अर्थ है ''भजना'' अर्थात् सेवा करना निरन्तर भगवान का आराधना करना। भक्ति की माहात्य विषय में भारतीय पवित्र ग्रन्थ में वर्णित है। परन्तु श्रीमद्भगवत्गीता और भागवत पुराण में भक्ति का माहात्य सर्वोत्कृष्ट है। उनके लक्ष्य, साधन और शैली महान तथा प्रसादपूर्ण है। जीवों के परम कल्याण के लिए ही इस ग्रन्थ का आविर्भाव हुआ है।

श्रीमद्भगवतगीता में भक्ति का स्वरूप-

श्रीमद्भगवतगीता समग्र विश्वसाहित्य का अमूल्यरत्नभण्डार सदृश है। इसमें 18 अध्याय और 700 श्लोक है। श्रीमद्भगवत्गीता के 12 अध्याय का नाम भक्ति योग है। इस भक्ति योग में बारह भक्ति का स्वरूप के विषय में वर्णित है। श्रीमद्भगवत गीता में भक्ति के विषये कही गई है कि भक्ति वैदिक यज्ञ का मूल है।

भक्ति, शब्द विभक्ति के अर्थ में है। भगवान का भाग बनना ही भक्ति है। गीता में अर्जुन को भक्ति योग की 12 विधियां बतायी है।[1]

भक्ति योग के माध्यम से इश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। किसी सद्गुरु की शरण में जाकर वह हमें ईश्वर तक पहुचने का रास्ता दिखाता है। गीता के द्वादश अध्याय में भक्ति योग के बारे में कहीं गई है कि भक्ति में भक्त ईश्वर को अपने हृदय का अर्ध्य देता है। इसके बारे में अर्जुन द्वादश अध्याय में भगवान् से पुछते है-

एवं सततयुक्ता ये भक्तख्वा पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।[2]

एकादश अध्याय में 'यत्कर्मकृत् मत्परमः'' इत्यादि द्वारा भक्तिनिष्ठाका श्रेष्ठतव कहा गया है। एकादश अध्याय में भक्त और भक्ति को श्रेष्ठ कहा गया है। इसलिए उपरोक्त श्लोक में सततयुक्त और अव्यक्त होकर जो लोग भगवान की उपासना करते है। उनमें से श्रेष्ठ कौन है? इसके उत्तर में भगवन् कहते है कि सर्वज्ञत्वादि गुण विशिष्ट मुक्त परमेश्वर में मन एकाग्र करके मदर्थ कर्मानुष्ठान द्वारा 'मन्निष्ठ'' तथा श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर जो मेरी आराधना करते है, वे ही मेरे मत से युक्ततम है। श्री भगवान कहते है-

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते में युक्ततमा मताः।।

अर्थात् एकादश इन्द्रिय युक्त होकर यदि कोई भक्त भगवान से प्रार्थना करे तो वह भक्त का श्रद्धायुक्त व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ होते है। जो भक्त वा व्यक्ति इन्द्रियों को संयत करके सर्वत्र समबुद्धि होकर अक्षर ब्रह्म की उपासना करते है, इस संसार से मुक्त हो जाती है। जो अनिर्दिस्य अर्थात् सिद्धि जिसका निर्देश नहीं किया जा सके, क्योंकि वह अव्यक्त अर्थात् रूपादीहीन है। सर्वत्र अर्थात् सर्वव्यापी है। वो परमात्मा अव्यक्त होने के कारण अचिन्त्य है। कुटस्थ-अर्थात् जो माया का अधिपति है। अचल वा ध्रुव, शाश्वत, नित्य है। उनकी निरन्तर ध्यान करने से जीवमुक्ति अवस्था प्राप्त करके वह परम शान्तिपद लाभ करता है। जिस व्यक्ति का

---

[1] श्रीमद्भागवत गीता, पृ. 325

[2] श्रीमद्भागवतगीता, द्वादष अध्याय, श्लोक.1, पृ. 325

मन योगासक्त है वे भगवान की आराधना नहीं कर सकती। गीता में भक्ति को मोक्ष का मार्ग बताया गया है। भक्ति मुक्ति का मार्ग के रूप में बताया गया है।[1]

जो भक्त अव्यक्त में आसक्त है। ईश्वर भक्ति में सदा सर्वदा आसक्त है। वही परमपद को प्राप्त होती हे। परन्तु जिनकी इन्द्रिय योगासक्त है, वह परमानन्दरूपता को प्राप्त नहीं कर पाता है। वह व्यक्ति दुःख को प्राप्त होता है। गीता में भगवान् कहते है-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिदुःखं देहद्भिरवाप्यते।।

अर्थात् भक्ति पूर्वक क्रिया करने पर प्राणपान की गति रुद्ध हो जायगी, अतएव गुरुवाक्यों में विश्वास करके श्रद्धा के साथ क्रिया करों। क्योंकि यदि कोई भक्ति के साथ उपासना करता है तो इस माया मोहित संसार से मुक्त हो जाता है।

गीता में भगवान कृष्ण कहते है जो भक्त मत्परायण होकर मुझे में अनन्य योग द्वारा ध्यान करके उपासना करता है। भक्ति योग द्वारा ध्यान करता हे। वो ब्रह्म को प्राप्त होता है। जो भक्त निःशेषरूप से स्थिर होकर उपासना करते हे। वे ईश्वर प्राप्ति के योग्य होते है। दुध में जामन देने से जैसे वह जमकर दहीं बन जाता है, दूध की वह सरलता नहीं रहती है। उसी प्रकार इश्वर को ध्यान करने पर मन की चञ्चलता हट जाती है, तब वह स्थितरूपी ब्रह्मसलीन होकर ब्रह्मरूप हो जाता है।[2]

जो व्यक्ति/भक्त भगवान के प्रति आवेशितचितासक्त होकर आराधना करते वे संसार से उद्धार कर देते है- भक्त यदि मन को स्थिर करे, व्यवसायत्मिका बुद्धि को भी ईश्वर में शन्निवेशित करे, ऐसा करने पर देहान्त होने पर परमात्मा में विलीन वा निवास करते है।[3]

गीता में भक्ति का मार्ग अभ्यास को बताया गया है। यदि कोई भक्त मन को स्थिर नहीं कर पाता है। तो वह अभ्यास योग द्वारा ब्रह्मपद को प्राप्त होते है। जो विद्वान् पुरुष इस प्रकार के उपाय का अवलम्बन करके प्रयत्न या अभ्यास करता है, उसकी आत्मा ब्रह्मध्यान में प्रवेश करता है। यदि भगवान को अभ्यास

---

[1] श्रीमद्भगवत्गीता, द्वादश अध्याय, पृ. 339

[2] श्रीमद्भगवतगीता द्वादश अध्याय, पृ. 324

[3] श्रीमद्भगवतगीता-द्वादश अध्याय. पृ.345

योग द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सके, तो उपवासः, व्रत, आचरण, पूजा और नामसङ्कीर्लन आदि जो कर्म है, उनको अनुष्ठान करके मोक्ष प्राप्त कर सकते है। अर्थात् भक्त का भक्ति मोक्ष प्राप्ति होती है। इसलिए भक्ति मोक्ष प्राप्ति का आधार है। इसलिए गीता में वर्णित है-

अभ्याससेऽप्यसमर्थोऽपि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।।[1]

यदि व्रतादि आचरण नहीं कर पाये तो भक्त अपने सारे दुष्ट, अदुष्ट फल को भगवान के शरण में रखकर परमेश्वराधीन हो जाता है। इस प्रकार का भाव भगवान् में रखकर फलासक्ति का परित्याग करना चाहिए।

जो व्यक्ति मन को दृढनिश्चययुक्त करके भगवान के उपासना करते है वह भक्त भगवान को प्रिय होते है। जिससे कोई व्यक्ति क्रोध से मुक्त है। हर्ष, अमर्ष, असहिष्णुता सारे मानसिक धर्मो से मुक्त है, वह भक्त भगवान को प्रिय होते है। निःस्पृह देहेन्द्रिय-विषयादि में जिनकी सुहा नहीं रहती, जिसका बाह्य और आभ्यन्तर शुद्ध है, वहीं भक्त ईश्वर प्रेम के योग्य होते है। जो व्यक्ति शुभाशुभ परित्यागी है। वही श्रेष्ठ भक्त है। शत्रु और मित्र में जिसका समभाव है, शीत, उष्ण, सुख-दुःख में समता, सर्वविषय में आसक्ति शून्य हैं, वही भक्तिमान् पुरुष भगवान को प्रिय है जो धर्म के साधक के वही भक्त है। धर्म रूपक भक्ति मुक्ति का साधक है।

गीता में भक्ति तीन प्रकार का होता है, प्रथम चरण का भक्ति भगवान के प्रति अपना आभार व्यक्त करने के लिए भक्त पत्र पुष्पादि अर्पित करता है। इसका उल्लेख गीता में भगवान् कहते है-

''पत्रं पुष्पं फलं तोय यो में भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्रामि प्रयतात्मनः।।''[2]

इसमें ईश्वर को सर्वशक्तिमान बतलाया गया है। द्वितीय चरण में भगवान को ईश्वर को ब्रह्माण्ड रूप में माना गया है। इसका गीता में उल्लेख है-

'यत्करोषि यदश्रासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

---

[1] श्रीमद्भगवत्गीता, द्वादश अध्या, श्लोक. 10 पृ. 348

[2] श्रीमद्भगवत्गीता, पृ. 171

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।।[1]

यहाँ भक्त और भगवान् का बीच भावानात्मक तथा कार्यात्मक का सम्बन्ध है। तृतीय चरण में भक्त भगवान् को स्वयं के सबसे निकट मानते है।

गीता में वर्णित है-

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्य से कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यति।।[2]

इस प्रकार अगर कोई व्यक्ति भगवान का भक्ति करता है, वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवत्गीता में भक्ति का स्वरूप सविस्तार रूप में वर्णित है। भागवतपुराण में भी इस प्रकार भक्ति का स्वरूप वर्णना किया गया है-

भगवतपुराण में भक्ति स्वरूप -

श्रीमद्भागवत संस्कृतसाहित्य जगत की श्रेष्ठ कृति है। मानव कल्याण के लिए ही इस ग्रन्थरत्न का आविर्भाव हुआ है। श्रीमद्भागवत चार प्रकार से विभाजन किया गया है- घटनात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक और गीतात्मक। इस शोधव्रत में श्रीमद्भगवत में भक्ति का स्वरूप का वर्णना किया गया है।

श्रीमद्भागवत में प्रत्येक अध्याय में जो उपदेश दिया गया है, वो उपदेश मानव काल्याण के लिए दिया गया है। श्रीकृष्ण भक्ति का अद्वितीय वर्णना किया गया है। उपदेश के अलावा मनुष्य अपना कर्म के आधार पर भगवान का स्मरण करने का उपाय भी बताया गया है जीव जीवन की पूर्णता केवल भगवान को प्राप्त करना ही होना चाहिए।

श्रीमद्भागवत वैष्णवों संप्रदाय की अमूल्य सम्बद्ध है। श्रीमद्भागवत में बताया गया है जो व्यक्ति इसको सुनता है, उसके हृदय भगवान निवास करते है। श्रीमद्भगवत्गीता में वर्णिता किया गया है-

''यस्मिन् ज्ञान विराग भक्ति सहितं नैष्कर्म्यमाविकृतम्।''[3]

अर्थात् जिसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से युक्त वैष्कर्म्य का आविष्कार किया गया है। वो श्रीमद्भागवत् पुराण है। श्रीमद्भागवत में स्पष्ट शब्दों में कह

---

[1] श्रीमद्भगवत्गीता पृ. 171 श्लोक. 27

[2] श्रीमद्भगवद्गीता पृ. 173, श्लो. 28

[3]श्रीमद्भगवद्गीता पृ. 16

दिया है कि ''नैष्कर्म्यमय्यच्युतभाववर्जितं न शोभते'' जो लोग भक्तिहीन है वो लोक का स्थान स्थान में निंदा होता है- श्रीमद्भागवत में न केवल भक्ति का स्वरूप वर्णन किया गया है, किन्तु इसमें ज्ञान और मुक्ति से भी बढ़कर भक्ति को श्रेष्ठ बताया गया है।

''भक्ति ददाति किञ्चित् न तु भक्तियोगम्''[1]

अर्थात् भगवान् मुक्ति देते है भक्ति नहीं तीसरे स्कन्द में कपिल ने अपनी माता देवहुति से कहा है कि ''ऊंची श्रेणी के संत मुझसे एव होना नहीं चाहिए, वे मेरी सेवा करते है। ऐसे प्रेमी भक्तो को मैं दर्शन देता हुँ। उनका सेवक बन जाता है। इससे प्रतीत होता है कि भक्ति स्वयं साध्य और फलरूप भी है।

भगवान के स्वरूप, गुण, लीला, नामा आदि का श्रवण, कीर्लण एवं स्मरण, उनके श्रीविग्रह को अपने सामने साक्षात् अनुभव करते हुए उनके सख्य, दास्य आदि संबध् का स्थापन और संपूर्ण भाव से उनके प्रति आत्मसमर्पण ही नवधा भक्ति है।

निर्गुण भक्तियोग का लक्षण करते हुए कहा गया है कि भगवान वर्णन सुनकर चित्त की संपूर्ण वृत्तियां इस प्रकार भगवान को विषय करने लगी जैसे गंगाजी की धारा अखण्ड रूप में समुंद्र में गिरती है। यही निर्गुण भक्ति है।

जो व्यक्ति विषयासक्त न होकर केवल परमात्मा में अपना मन को स्थिर करता है। वही सच्च भक्त है। भगवान् सगुण या निर्गुण है, यही बात उनके पास पहुँचकर खुल जाता है। उनकी स्मरण करते ही उनकी स्वरूप का ज्ञान ही जाती है। मन सारे सुख-दुःख का कारण है। इससे अच्छी-बुरी को सृष्टि होती है। आत्मा तो असंग है। इसलिए मन को शान्त करने पर आत्मबोध होता। उससे परमात्मा प्राप्ति का रास्ता खुल जाती है।[2]

इसलिए श्रीमद्भागवत में भक्ति को विशिष्ट महत्व दिया गया है। भक्त का हृदय भगवान के दर्शन के लिए गाय बछड़े के जैसा व्याकुल होता है, सुंदरी प्रियतम के लिए छटपटाती है।

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता पृ. 5/10

[2] श्रीमद्भागवत्, पृ. 8

भागवत के अनुसार भक्ति मुक्ति का साधन होता है। ज्ञान कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते है। वैराग्य भाव जबतक हृदय में न आये, तब तक भगवत् प्राप्ति असम्बक है। कर्मफलों को भी भगवान को समर्पण कर देना ही भक्ति है।

अतः श्रीमद्भागवतपुराण में भक्ति दो प्रकार का है। साध्यरूपा और साधनरूपा, साधन भक्ति नौ, है- विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन, सत्संगति की महिमा का वर्णन बड़े-सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा भक्ति प्रेममयी है। जिससे भक्त मोक्ष नहीं पाता है। भगवान के साथ निरन्तर वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भगवतच्चरण चंचरीक भक्त नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते है।

मुनिजन भागवत श्रवण से प्राप्त ''ज्ञान वैराग्य'' युक्त भक्ति से अपने हृदय में उस परमतत्वरूप परमात्मा को अनुभव करते है। भगवान श्रीकृष्ण के यश का श्रवण और कीर्तन दोनों पवित्र करने वाले है। वे अपनी कथा सुनने वालों के हृदय में आकर स्थित हो जाते है। और उनकी अशुभ वासनाओं को नष्ट कर देते है, क्योंकि वे संतों के नित्य सृदृढ़ है।[1]

वेदो का तात्पर्य श्रीकृष्ण में ही है। यज्ञ का उद्देश्य भी श्रीकृष्ण है। समस्त कर्मों का परिसमाष्टि भी श्रीकृष्ण में ही है। ज्ञान से ''ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण'' की ही प्राप्ति होती है। भगवान श्रीकृष्ण के लिए सारे धर्म और कर्म भी है। अतः संपूर्ण भक्ति और भक्त का शाश्वत स्वरूप है भगवान श्रीकृष्ण।[2]

अतः भाव और भाषा की दृष्टि से श्रीमद्भागवत धार्मिक ग्रन्थों का अनुपम रचना है। सर्ववेद्यन्तसार भागवत का वर्णन यथार्थ है-

''श्रीमद्भागवतं पुराणमभक्त यद् वैष्णवनां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकम् भक्तं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविराग भक्तिसहितं नैष्कम्ग्राविष्कृतम्।
तच्छृष्वन् विपठन विचारणपरो भक्त्या विमुच्येनः।[3]

---

[1] श्रीमद्भागवत् पुराण पृ. 420

[2] श्रीमद्भागवत के संवादों एवं उपदेशों का तात्विक विवेचन पृ. 150

[3] श्रीमद्भागवतपुराणम्, पृ. 10

श्रीमद्भागवतगीता और भागवत में भक्ति स्वरूप का अन्तर-

श्रीमद्भगवतगीता महाभारत का हिस्सा है, इसमें श्रीकृष्ण ने अर्जुन को साख दर्शन, योगदर्शन तथा अष्टादश अध्याय में अठारह दर्शन के बारे में बताया है। जिसमें से भक्ति दर्शन के बारे में बताया है। श्रीमद्भागवत अष्टादश महापुराण में से एक पुराण है। इसमें भगवान नारायण के अवतारों की कहानियां है, यह अठारह महापुराण में से पाचवाँ पुराण है। यह वैष्णवों संप्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है। दोनों के ही नायक श्रीकृष्ण के और दोनों उपदेशात्मक है। भगवतगीता भक्ति को एक-मार्ग के रूप में प्रस्तुत करती है, परन्तु श्रीमद् भागवतः भक्ति का एक उच्चतम स्तर, प्रस्तुत करता है, जिसमें भगवान की प्रेमपूर्ण भक्ति और उनके प्रति समर्पण का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में भगवान श्रीकृष्ण से भक्ति और उनके चमत्कारों पर केन्द्रित है। इसमें भक्ति योग और भगवान की लीलाओं का गहन विवरण है। गीता में भक्ति मोक्ष का साधन है। मुक्ति का भी साधन है। लेकिन भागवत में केवल मोक्ष और मुक्ति भक्ति का साधान नहीं। अपितु भगवान् श्रीकृष्ण की निरन्तर स्मरण करना उनका वन्दना करना भी भक्ति है।

भागवतपुराण में भगवान् श्रीकृष्ण को पाना वा भगवान श्रीकृष्ण ही सर्वमय है, इसका वर्णन किया गया है। भागवतपुराण का मुख्य लक्ष्य केवल ही भक्तियोग है। लेकिन श्रीमद्भगवतगीता भक्ति के साथ साथ ज्ञान और कर्म, साख्यादि योगों का निरूपण किया गया है। भागवतपुराण में कृष्ण को सभी देवों का देव या स्वयं भगवान के रूप में चित्रित किया गया है। भागवत में रस भाव की भक्ति का निरूपण किया गया है। भागवत के प्रत्येक श्लोक में श्रीकृष्ण प्रेम की सुगन्धि है। श्रीमद्भागवत भक्तिरस तथा अध्यात्मज्ञान का समन्वय उपस्थित करता है। भागवत निमम कल्पतरु का स्वयं फल माना जाता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मज्ञानी महर्षि शुक अपनी मधुर वाणी से कहते है-

"सर्ववेदान्तसारं हि श्री भागवतमिष्यते।
तद्वसामृततृपृस्य नान्यत्र स्याद्वतिः क्वचित्।"[1]

---

[1] श्रीमद्भागवत्, पृ. 12/13/15

श्रीमद्भागवतम् सर्ववेदान्तसार है। जिसको पान करने से और कुछ प्राप्त करने की जरूरत नहीं है।

श्रीमद्भगवतगीता में भक्ति का अन्यनान राजविद्या, परमपवित्र, धर्ममय, सुखपूर्वक अनुष्ठान, तथा अविनाशी के रूप में कहा गया है। गीता में भक्ति की उत्पत्ति पाप नाश हेतु आविर्भाव हुआ है। गीता में परमेश्वर का ज्ञान प्राप्ति ही भक्ति है। भक्ति से बुद्धियोग, आत्मतत्वस्वरूप परमेश्वर का ज्ञान प्राप्ति होती है।

भगवतगीता में पराभक्ति, उपरा भक्ति, के विषय में बताया गया है गीता में भगवान को पाने के लिए व्रत, उपासना, अभ्यास, व्रत पुष्ण आदि विधि के अनुसार पूजन, अर्चन करना चाहिए। भागवतपुराण में पूजन, अर्चन आदि नवधा भक्ति के साथ-साथ जितेन्द्रिय होकर भगवान की स्मरण करना ही भक्ति है। गीता में श्रेष्ठ भक्त, भक्ति का फल के बारे में वर्णित है। परन्तु भागवत में जो व्यक्ति चितारूढ़ होकर श्रीकृष्ण की स्मरण करता है- वही भक्त भगवान के प्रिय होते है। भगवत गीता में निराकर और साकार भक्ति के बारे में वर्णन किया गया है। भागवत में साध्य और साधन भक्ति के बारे में वर्णन किया गया है। अतः श्रीमद्भागवत और भगवतगीता में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों एक दूसरे के परिपूरक है। दोनों परस्पर के दर्पण सदृश है। दोनों ग्रन्थों को पढ़ने से व्यक्ति को आत्मतत्व की प्राप्ति होती है।

निष्कर्ष-

श्रीमद्भागवतपुराण और भगवतगीता संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। गीता और भागवत में अद्वैत तत्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। दोनों ग्रन्थों का लक्ष्य है भगवत प्राप्ति लेकिन दोनों में अन्तर कुछ ऐसा है कि श्रीमद्भगवतगीता जो भक्ति योग है वो जीवन के नैतिक और दार्शनिक का प्रतीक है। परन्तु भागवतपुराण में जो भक्ति है वो भगवन् श्रीकृष्ण पर केन्द्रित है। इसमें भगवान् के प्रति समर्पण भाव का प्रतीक स्वरूप है। अतः दोनों ग्रन्थ भारतीय वैष्णव संप्रदाय की अमृतभण्डार रत्न है। दोनों ग्रन्थों में वर्णित भक्ति का स्वरूप आधुनिक समाज के लिए अत्यन्त लाभदायक है।

सन्दर्भग्रन्थसूची

क्र.सं.-ग्रन्थनाम-लेखक-प्रकाशन-वर्षम्

1-श्रीमद्भागवत पुराण-कृष्ण कुमार बाली-बी.आर.पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली-2011

2-श्रीमद्भागवत में संवादों एवं उपदेशों तात्विक विवेचन-डॉ. कल्याण सिंह रावत-ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली-2019

3-श्रीमद्भगवत् गीता में वैज्ञानिक चिन्तन-डॉ. पं.शान्ता प्रसाद पाराशर-ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली-20124-श्रीमद् भागवत् पुराण में प्रेमतत्व-डॉ. रामचन्द्र तिवारी-ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली-2011

5-वर्तमान सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत वर्णित शैक्षिक एवं नैतिक तत्व-आनन्द कुमार प्रियदर्शी-शिवालिक प्रकाशन दिल्ली-2021

6-भारतीय चिन्तन परम्परा में गीता-डॉ.शिवशंकर मिश्र-ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली-2018

7-भगवत गीता एवं भागवत पुराण में कर्म की अवधारणा-सूधा त्रिवेदी-ज्ञान भारती पब्लिशकेशन्स, दिल्ली-2013

8-श्री भक्ति सन्दर्भ-हरिदास-श्री गदाधर गौर हरिप्रेस कालीदह-1985

9-श्रीमद्भगवतगीता-श्री भूपेन्द्र नाथ सन्यास-गुरुधाम प्रकाशन समिति भण्डार-2021

10-श्रीमदभगवतगीता-स्वामी रामसुखदास-गीताप्रेस, गोरखपुर-2016

श्रीमदभगवद्गीता और भागवत

सांख्यतत्त्व का दृष्टिकोण

Dr.Tarulata Patel, Assistant Professor
Maniben M. P. Shah Mahila Arts College, Kadi, Gujarat

भारतीय दर्शन में भगवद्गीता और भागवत पुराण का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। दोनों ग्रंथ न केवल धार्मिक दृष्टि से बल्कि दार्शनिक दृष्टि से भी अत्यंत समृद्ध हैं। विशेष रूप से, सांख्य तत्त्व का इन दोनों ग्रंथों में विशिष्ट स्थान है, जो आत्मा, प्रकृति और ब्रह्म के बीच के संबंधों को स्पष्ट करता है।

भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के मैदान में ज्ञान और कर्म के संबंध में सांख्य दर्शन का उपदेश दिया। यहाँ सांख्य का तात्पर्य है "ज्ञान"। श्रीकृष्ण ने बताया कि आत्मा अमर है और केवल शरीर का नाश होता है। यह ज्ञान अर्जुन को उसकी नैतिक दुविधा को समझने में मदद करता है और उसे युद्ध के लिए प्रेरित करता है। गीता के अनुसार, सच्चा ज्ञानी वही है, जो शरीर के बंधनों से परे जाकर आत्मा की स्थिति को समझता है।

भगवद्गीता का सांख्यदृष्टिकोण

गीता ने अपने दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए सम्पूर्ण विश्व को और जो कुछ भी विश्व से अतीत हो सकता है उस सब को तीन पुरुषों के रूप में प्रक्ट किया है-क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम ।१ इस लोक में दो पुरुष हैं- क्षर और अक्षर। क्षर का अर्थ है समस्त भूत। अक्षर कूटस्थ को कहा जाता है। इन दोनों से उत्तम एक और पुरुष है जिसे परमात्मा कहा जाता है, जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करता है। वह अविनाशी है, ईश्वर है।

क्षर शब्द का साधारणतया अर्थ होता है चीण या नष्ट होने वाला। परन्तु सत्कार्यवाद के अनुसार कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता। जब कोई पदार्थ हमें स्थूल दृष्टि में नष्ट होता प्रतीत होता है तो यहां उसकी सत्ता का अत्यन्त विनाश नहीं

होता अपितु वह पदार्थ अपने उपादानभूत तत्त्वों का रूप धारण कर लेता है। उदाहरणस्वरूप घट यदि टूटता है तो वह मृत्तिका का रूप धारण कर लेता है। मृत्तिका जय छिन्न भिन्न होती है तो वह पार्थिव (आदि) परमाणुओं का रूप धारण कर लेती है। और जब यह विश्लेषणात्मिका या कारणोन्मुखी क्रिया और आगे बढ़ती है तो परमाणु रूप में विद्यमान मृत्तिका क्रमशः तन्मात्रा, अहंकार, महत का रूप धारण कर लेती है। और फिर महत् रूप धारण करने वाली मृत्तिका सत्त्व, रज और तम गुण वाली मूलप्रकृति का रूप धारण कर लेती है। कुछ भी सर्वथा नष्ट या असत् नहीं होता। 'सांख्य शास्त्र ने इस सिद्धान्त को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। गीता भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करती है। अतः उसने कहा है कि सत का अभाव या विनाश नहीं होता' ।२ अतः इस सिद्धान्त के अनुसार जब हम यह मान लेते हैं कि किसी भी पदार्थ का अत्यन्त विनाश नहीं होता तो क्षर शब्द का अर्थ करना चाहिये-जैसा कि इसके धात्वर्थ (चर संचलने) से प्रकट होता है-सक्रिय, परिणामी, विकारी, परिवर्त्तनशील। सांख्य के अनुसार ऐसे पदार्थ चौवीस हैं-मूल प्रकृति, महान्, अहंकार, पंच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध), मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां (ओत्र, त्वकू, चक्षु, रसना, घ्राण), पांच कर्मेन्द्रियां (वाकू, पारिण, पाद, गुदा, उपस्थ), और पांच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी)। इन चौबीस तत्त्वों में सदा क्रिया होती रहती है, इस कारण ये सक्रिय, विकारी या परिणामी कहे जाते हैं और इस ही लिये ये क्षर कहलाते हैं।

गीता ने क्षर शब्द को सभी प्राणियों (क्षरः सर्वाणि भूतानि)३ के रूप में परिभाषित किया है। यह कभी प्राणियों के लिए आता है, कभी निर्जीव वस्तुओं के लिए और कभी सजीव और निर्जीव दोनों के लिए। भगवान सभी प्राणियों के मित्र हैं।४ भगवान के भक्त सभी प्राणियों के साथ द्वेष नहीं करते ।५ ऋषिगण सभी प्राणियों की अशुद्धियों को पुनर्जीवित करके उनके कल्याण में लगे रहते हैं ।६ इन शब्दों से प्रतीत होता है कि यहां भूत शब्द का तात्पर्य जीवित प्राणियों से है। मित्रता, रुचि और अद्वेष का कारण केवल सजीव प्राणियों से ही हो सकता है, पत्थर जैसी जड़ वस्तुओं से नहीं। आठवें अध्याय में, गीता कहती है कि जब सृजन का समय आता है, तो सभी व्यक्त पदार्थ अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं और जब प्रलय का समय आता है, तो वह फिर से उसी अव्यक्त में लीन हो जाता है। ये सभी भूत (भूतग्राम) सृष्टि के समय इस अव्यक्त से बार-बार उत्पन्न होते हैं और

प्रलय के समय पुनः इसी में विलीन हो जाते हैं। ७ यहां जिस अव्यक्त से इस सृष्टि का वर्णन किया गया है, उसे सांख्य के सत्व, रज और तम गुणों से युक्त अव्यक्त नाम की प्रकृति ८ कहा जाता है।

अतः यहां समस्त भूत (भूतग्राम) शब्द केवल महद् आदि प्राकृतिक पदार्थों का ही वाचक है। 'दसवें अध्याय में भगवान् कहते हैं कि मैं समस्त भूतों का बीज हूं। चर और अचर में कोई भी भूत मेरे बिना अपना अस्तित्व नहीं रखता। ९ इस से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यहां सर्वभूत शब्द जीव (चर) और प्राकृतिक पदार्थ (अचर) दोनों का वाचक है, कारण ईश्वर को सभी का बीज बतलाया गया है। इनमें से किसी भी एक को ईश्वर से भिन्न, या ईश्वर से भिन्न तत्त्व का कार्य नहीं कह सकते। कारण ऐसा करने पर "वासुदेवः सर्वमिति", "सर्व खल्विदं ब्रह्म", पुरुष एवेदं सर्वं" इत्यादि वेद, उपनिषद् और गीता के वचनों का विरोध हो जाता है। "क्षरः सर्वाणि भूतानि", यहां क्षर शब्द से गीता इस तीसरे अर्थ का ही ग्रहण करती है और इस प्रकार समस्त प्राकृतिक पदार्थ और समस्त जीवों को तर कहती है, कारण उनमें क्रिया, विकार या परिवर्त्तन होता है।"

सांख्य में प्रकृति और पुरुष को दो तत्व माना गया है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। प्रकृति के तीन गुण हैं: सत्व, रज और तम। ये गुण हमेशा सक्रिय अवस्था में रहते हैं। कभी-कभी सत्त्व प्रधान होता है और तम प्रबल होता है; कभी-कभी तम प्रबल होता है और सत्व और तम प्रबल होता है। शास्त्रों के अनुसार संसार में जो भी क्रिया होती है वह इन गुणों में या उनके माध्यम से होती है, लेकिन वह अचेतन प्रकृति की होती है। क्रियाओं का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, उनमें आसक्त होकर सुख, दुःख, मोह, जन्म, मरण आदि विकारों को अपने में मानने लगता है। इस काल्पनिक क्रिया या विकार को स्वीकार करने के कारण ही वह क्षर कहा जाता है। जिस समय उसे विवेक हो जाता है तो वह प्रकृति की क्रियाओं का प्रतिबिंब ग्रहण करना बंद कर देता है और मुक्त हो जाता है।" उस समय वह अपने सच्चे निष्क्रिय और निर्विकार स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। उसकी इस अवस्था को अक्षर कहा जाता है। यह सांख्य के अनुसार क्षर और अक्षर हैं-सम्पूर्ण प्रकृति और बंधन में पड़ा हुआ जीव क्षर, और मुक्त जीव अक्षर ।

सांख्य बहु-जीव-वादी है, अतः इस दर्शन के अनुसार मुक्त हो जाने पर भी जीवों का परस्पर में एक दूसरे से भेद और उनका प्रकृति से भेद नित्य बना रहता है। 'गीता सांख्य के पुरुष बहुत्व को और पुरुष एवं प्रकृति के भेद को स्वीकार करती है। परन्तु गीता सांख्य की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। वह पुरुषों के परस्पर के भेद को और पुरुष एवं प्रकृति के भेद को व्यवहारिक सत्य मानती है, अन्तिम सत्य नहीं मानती । वह प्रकृति और जीव दोनों को एकमेवाद्वितीय चेतन पुरुप-रूप बीज की दो शाखायें मानती है। [१०] गीता में सत्त्व, रज और तम गुणों वाली प्रकृति स्वतन्त्र और जड़ नहीं है। यह उस एकमेवा-

द्वितीय चेतन की चेतन शक्ति का, जिसे गीता ने पराप्रकृति कहा है, ,आविर्भाव है। चेतन-शक्ति का कार्य होने पर भी इसमें चेतना स्थूल दृष्टि में प्रतीत नहीं होती। कारण इसके भीतर चेतना इस प्रकार छिपी है जैसे काष्ठ में अग्नि। यही कारण है कि जो यह यथार्थ में चेतन होते हुए भी स्थूल रूप में जड़ प्रतीत होती है। जिस परा प्रकृति का यह आविर्भाव या कार्य है वह उस चेतन पुरुप से कोई प्रथक् या स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, अपितु उसके साथ एकीभूत है, कारण वह उसकी शक्ति है और शक्ति और शक्तिमान् एक होते हैं। यह पराप्रकृति ही उस चेतन की प्रेरणा से असंख्य जीवों का रूप धारण करती है । [११]**(परां प्रकृतिं जीव भूतां)**। चूंकि यह पराप्रकृति उस चेतन से भिन्न नहीं है, अतः जैसे यह कहा जाता है कि पराप्रकृति सत्त्व रज और तम गुणमयी अपरा प्रकृति (और उसके विकारों) का और समस्त जीवों का रूप धारण करती है [१२] , ऐसे ही यह भी कहा जा सक्ता है कि वह चेतन ही (अपनी परा प्रकृति के द्वारा) इन दोनों का रूप धारण करता है:

विश्व में जो हमें देवता, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, आदि चर और अचर पदार्थ दिखलाई देते हैं ये सब उस एकमेवा- द्वितीय चेतन के अनन्त सक्रिय रूप हैं। जो चेतन इस प्रकार अनन्त रूपों में व्यक्त हो रहा है, उसे वेदों [१३] में पुरुप (**पुरुप एवेदं सर्व),** उपनिपदों में ब्रह्म[१४] **(सर्व खल्विदं ब्रह्म**) और गीता [१५] में पुरुषोत्तम या वासुदेव **(वासुदेवः सर्वम्)** कहा गया है। अतः उस चेतन के अनन्त रूप वाले, अनन्त प्रकार से क्रिया करने वाले इस रूप को गीता ने क्षर कहा है और चूंकि यह

चेतन पुरुष का ही एक रूप-विशेष या कार्य है इस कारण इसे पुरुष कहा गया है। अतः श्री अरविन्द लिखते हैं:

There is a spirit at work in the world that is one in innumerable appearances. It is the constituting reality of all this stir in time and space; it is itself Time and space and circumstance. It is this multitude of souls in the world; it is the gods and men and creatures and things and forces and qualities and powers and presences. It is nature, which is power of the spirit, and object which are its phenomena of name and idea and form, and existences [१६]

"जगत् में एक पुरुप असंख्य रूपों में क्रिया कर रहा है। देश और काल में जो कुछ भी हलचल होती है उस सब का वही स्रष्टा, परमार्थ तत्त्व है। वह स्वयं देश काल और घटनायें हैं। वही इस जगत् में जीवों का रूप धारण किये हुए है। वह देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीव और वस्तुएं, शक्तियां, गुण, परिमाण और उपस्थितियां है। वह प्रकृति रूप में है जो कि आत्मा की शक्ति है; वह पदार्थों के रूप में है जो कि उसके नाम, रूप, विचारमय प्रपंच हैं। और वह समस्त भूत है।

It is the Kshara, the universal soul the spirit in the multiplicity of Cosmic phenomenon and becoming. The Kshara spirit (is) visible to us as all natural existences and the totality of all existences,[१७]

वही क्षर, विश्वात्मा, बहुविध विश्व प्रपंच का रूप धारण किया हुआ आत्मा (पुरुष) है। समस्त प्राकृतिक पदाथों और समस्त जीवों के रूप में जो कुछ हमें दिखाई देता है वह सब जर पुरुष ही है। परन्तु यह सक्रिय रूप जिसे क्षर कहा गया है उस चेतन का वहुत अल्प अंश है' ।[१८]

इससे भिन्न उसका एक और भी रूप है जिसे अक्षर कहते हैं। अक्षर शब्द का अर्थ गीता ने कूटस्थ किया है। कूट शब्द का अर्थ होता है लोह-पिंड, निश्चल, निर्विकार, कठिन, ठोस पदार्थ । कूटस्थ शब्द का अर्थ होता है कूट अर्थात् लोह पिंड के समान निश्चल निर्विकार रहने वाला' ।[१९] अमर कोश में शाश्वत ध्रुव, नित्य,

सदातन, सनातन, स्थास्लु आदि शब्दों के साथ इसका पाठ आया है और वहां इसका अर्थ किया गया है सब काल में एक रूप में रहने वाला।[२०]

सुनार के अहरन (लोह पिंड) के ऊपर लाखों करोड़ों सोने और चांदी के पिंड टूट फूट कर अलंकारों का रूप धारण कर लेते हैं और फिर टूट फूट जाते हैं परन्तु वह अहरन जैसा पहले था प्रायः वैसा ही बना रहता है। इसही प्रकार जो चैतन्य सम्पूर्ण विश्व का, विश्व के समस्त विकारों का आधार होता हुआ अपनी आत्म-सत्ता में सार रूप में निर्विकार बना रहता है वह कूटस्थ या अक्षर कहलाता है। समस्त भूर्तो के नष्ट होते हुए भी यह नष्ट नहीं होता इस कारण इसे अविनाशी, नित्य, अव्यय, स्थाणु, अचल, सनातन कहा गया है'। समस्त भूतों का सार या आत्मा होने के कारण इसे आत्मा [२१] (१०।२०) कहा गया है। बाह्य इन्द्रियों का विषय न हो सकने के कारण इसे अव्यक्त कहा गया है। यह अव्यक्त सांख्य के सत्त्व रज और तम गुणों की साम्यावस्था वाले अव्यक्त (मूल प्रकृति) से परे है। कम से कम स्थूल अवस्था में नहीं हैं, इसलिये इसे अचिन्त्य और निर्गुण कहा जाता है। वाणी से इसके स्वरूप का ठीक ठीक प्रतिपादन नहीं किया जा सकता इसलिये इसे अनिर्देश्य कहा जाता है। यही गीता का अक्षर है। सांख्य के अक्षर में और गीता के अक्षर में यह भेद है कि पहला व्यष्टि है, प्रकृति से भिन्न है, स्वयं अपने सजातीय अक्षरों (मुक्तजीवों) से भिन्न है अतः बहु है; गीता का अक्षर समष्टि है, प्रकृति और समस्त जीवों से अभिन्न और उनका आत्मा है, एकमेवाद्वितीय है।[२२]

इस प्रकार गीता ने क्षर और अक्षर का स्वरूप बतलाया है। गीता के अनुसार यह अक्षर अन्तिम तत्त्व नहीं है। गीता इससे उत्तम एक और पुरुष की सत्ता मानती है जिसे वह पुरुषोत्तम कहती है। जहां भी कोई क्रिया या परिवत्तन होता है उसका आधार कोई न कोई स्थिर तत्त्व अवश्य होता है। मृत्तिका में जब रचनात्मक, संघटनात्मक या संश्लेषणात्मक क्रिया होती है तो वह घट, घास, दूध, घृत, चीनी, काष्ठ, पुष्प, फल आदि विविध वस्तुओं का रूप धारण कर लेती है, परन्तु इन सब विकारों में मृत्तिकात्व स्थिर बना रहता है। स्वर्ण अनेक प्रकार के अलंकारों और पात्रों का रूप धारण कर लेता है, परन्तु स्वर्णत्व सबमें समान रूप से विद्यमान रहता है। चांदी, पीतल और लोहा अपने अलंकारों और विकारों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं, इस कारण सुनार किसी गहने या पात्र को देखकर

उसके मूल धातु के अनुसार मूल्य निर्धारण करता है न कि उसके बाहरी रूप के अनुसार । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच महाभूत सूर्य, चन्द्र, समुद्र, वृत्त आदि समस्त भौतिक पदाथों का रूप धारण करते हैं परन्तु अपने मूल रूप में वही रहते हैं। इसही प्रकार सांख्य के अनुसार सत्त्व रज और तम ये तीन गुण महान्, अहंकार, पञ्च-तन्मात्रा, पञ्च महाभूत और सूर्य, चन्द्रमा आदि समस्त भौतिक पदार्थों का रूप धारण करते रहते हैं परन्तु अपने मूल स्वरूप में सदा निर्विकार बने रहते हैं। सत्त्व-रज या तम नहीं होता, रज- सत्त्व या तम नहीं होता और तम- सत्त्व या रज नहीं बन जाता। सत्त्व सदा सत्त्व बना रहता है, रज सदा रज ही रहता है और तम भी सदा तम ही रहता है। करोड़ों वर्षों से अनन्त रूपों में बनते और बिगड़ते हुए भी इनके मूल परिमाण में लेशमात्र भी कमी या वृद्धि नहीं होती। जितने अब से करोड़ों वर्ष पहले थे उतने ही अभी तक हैं और उतने ही भविष्य में भी रहेंगे। ये कभी भी नष्ट नहीं होंगे। अतः सांख्य के अनुसार ये अविनाशी हैं। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों ने भी सांख्य के इस सिद्धान्त को मूल रूप में स्वीकार किया है। अतः श्रीयुत जेम्स लिखते हैं:

"The first law of Thermodynamics..... teaches that energy is indestructible, it may change from one form to another, but its total amount remains unalterable through all these changes, so that the total energy of the universe remains always the same".(The universe Around us)

इन तीन गुणों को यदि एक शब्द में कहना हो तो प्रकृति कहा जाता है। इस ही प्रकार जब हम सांख्य की सीमा का अतिक्रमण करके प्रकृति और जीव इन दोनों के मूल में रहने वाले किसी एक तत्त्व की खोज करते हैं तो पता चलता हैकि जैसे महान्, अहंकार, मन, पञ्च, तनमात्रा, पञ्च महाभूत, सूर्य, चन्द्रमा, वृत्त आदि समस्त सक्रिय भौतिक पदाथों के मूल में सत्त्व रज और तम ये तीन गुण नित्य निर्विकार रूप में स्थिर रहते हैं, इस ही प्रकार इन तीन गुणों वाली सक्रिय प्रकृति और समस्त जीवों के मूल में सत्ता चेतना और आनन्द ये तीन गुण नित्य स्थिरं रहते हैं। ये तीन होते हुए भी यथार्थ में वहां एक ही हैं। सत्ता चेतना है, चेतना आनन्द है। इन्हें यदि एक शब्द में कहना हो तो सच्चिदानन्द रूप ब्रहा कहा जाता है। यही समस्त चराचरात्मक विश्व का आधार है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें ये तीनों गुण (सच्चिदानन्द ब्रह्मा) व्यक्त या अव्यक्त रूप में विद्यमान न

हों। यदि कोई पदार्थ हमें जड़ प्रतीत होता है तो इसका कारण यह नहीं है कि वह यथार्थ में जड़ है, अपितु उसमें चेतना तिरोभूत है जोकि हमारी साधारण स्थूल दृष्टि का विषय नहीं हो पाती। सूक्ष्म दृष्टि के प्राप्त होने पर अथवा उस बस्तु के रूप में विरोध प्रकार का परिवर्तन होने पर उसमें चेतना इस प्रकार देखी जा सकती है जैसे काष्ठ में अग्नि, दूध में घृत, तिलों में तेल, घट, घास, दूध, घृत आदि में मृत्तिकात्व, स्वर्ण के विकारों में स्वर्णत्व इत्यादि । अतः जैसे मृत्तिका के विकारों में मृत्तिकात्व, स्वर्ण के विकारों में स्वर्णत्व और प्रकृति के समस्त विकारों में सत्त्व रज तम निर्विकार रूप में स्थिर रहते हैं इस ही प्रकार अनन्त प्रकार से क्रिया करने वाले, अनन्त नाम और रूप धारण करने वाले इस चराचरात्मक विश्व (क्षर) के मूल में यह सच्चिदानन्द तत्त्व ही सदा निर्विकार रूप में स्थिर रहता है, इस कारण इसे कूटस्थ अक्षर कहा जाता है।

अक्षर और पुरुषोत्तम का भाव गीता में अधिक स्पष्ट रूप में दिखलाया गया है। वहां अक्षर को आत्मा , कूटस्थ, अव्यक्त, ब्रह्म कहा गया है और इसके साथ अचल, ध्रुव, अनिर्देश्य, अचिन्त्य, अविकार्य आदि विशेषण जोड़े गये हैं, पुरुषोत्तम को ईश्वर, परमात्मा, परमपुरुष , दिव्यपुरुष आदि नाम दिये गये हैं। यहां "अहं" "माम् " शब्दों से प्रायः सर्वत्र पुरुषोत्तम का ही निर्देश है। और चूंकि अक्षर और पुरुषोत्तम दोनों मूल रूप में एक ही हैं अतः इन दोनों को कहीं कहीं एक भी कर दिया है। परन्तु अधिकतर स्थानों में इनके आंशिक भेद को रखते हुए वर्णन किया गया है, और जहां कहीं भी भेद की झलक दी गई है वहां सर्वत्र अक्षर से पुरुषोत्तम को उत्तम, अक्षर की उपासना से पुरुषोत्तम की उपासना को उत्तम, अक्षर की उपासना से प्राप्त होने वाले फल से पुरुषोत्तम की उपासना से प्राप्त होने वाले फल को उत्तम और अक्षर के उपासकों से पुरुषोत्तम के उपासकों को उत्तम बतलाया गया है।

चतुर्थ अध्याय [२३] में कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त करके तुम समस्त भूतों को आत्मा में (आत्मनि) देखोगे और फिर मुझमें (मयि) देखोगे। यहां आत्मा शब्द अक्षर ब्रह्म का वाची है और मुझ में (मयि) शब्द पुरुषोत्तम का। छठे अध्याय में सर्वत्र समदर्शी योगी के लिये पहले आत्मा का समस्त भूतों में और आत्मा में समस्त भूतों का दर्शन बतलाया गया है (सर्व- भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि) और इसके अनन्तर सब में मेरा (मां और मुझ में (मयि) सबका दर्शन बतलाया

गया है[२४] । यहां भी आत्मा शब्द अक्षर ब्रह्म का और मुझे, मुझ में (मां, मयि) शब्द पुरुषोत्तम के वाची हैं। बारहवें अध्याय [२५] में अव्यक्त अक्षर की और तेरी (त्वां) उपासना में भेद किया गया है और श्रीकृष्ण जी ने मेरी (मां) उपासना करने वालों को उत्तम योगी कहा है। यहां भी अव्यक्त अक्षर शब्द अक्षर ब्रह्म का और तेरी, मेरी (त्वां, मां) शब्द पुरुषोत्तम के वाची हैं। अठारहवें अध्याय [२६] में कहा गया है कि अहंकार, बल, काम, क्रोध, परिग्रह का परित्याग करके, निर्मम और शान्त होकर मनुष्य ब्रह्म भाव को प्राप्त करता है। ब्रह्मभूत हो जाने पर उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है और इस पराभक्ति के द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूप और परिमाण का ज्ञान होता है और फिर वह मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। वहां ब्रह्म शब्द अक्षर ब्रह्म का वाची है और मां शब्द पुरुषोत्तम का। यहां ब्रह्मभाव की प्राप्ति अहंकारादि के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने पर होती है जो कि एक मध्यवर्ती भूमिका है अन्तिम नहीं। अन्तिम भूमिका है पुरुषोत्तम में निवास जो कि ब्रह्मभाव की प्राप्ति के अनन्तर परा- भक्ति के प्राप्त होने पर होता है। चौदहवें अध्याय [२७] में कहा गया है कि अनन्य भक्ति योग के द्वारा जो मेरी उपासना करता है वह ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है और ब्रह्मा की प्रतिष्ठा मैं हूं। यहां भी ब्रह्म शब्द अक्षर ब्रह्म का वाची है और मैं (अहं) शब्द पुरुषोत्तम का। इस प्रकार क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम इन तीन पुरुषों का स्वरूप गीता में दिखलाया गया है –

भागवतपुराण का सांख्यतत्त्व

भागवत पुराण भी सांख्य दर्शन के तत्वों को अपने में समेटे हुए है। यह पुराण भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं और उनके भक्तों के माध्यम से भक्ति और ज्ञान के बीच संतुलन स्थापित करता है। सांख्य के आदि मुनि कपिल की विष्णु के अवतारों में गणना की गई है । कपिल को भगवान का पांचवाँ अवतार माना गया है। इन्होंने काल की गति से लुप्त हुए सांख्य-तत्व-निर्णय का आसुरि को उपदेश दिया ।[२६] इसके आगे भी तृतीय स्कन्ध में कपिलाख्यान का बाइसवें व चौबीसवें अध्याय में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त एकादश स्कन्ध में भी जो कि एक प्रकार से समस्त भागवत पुराण का सार है, सांख्य दर्शन का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

भागवत पुराण में वर्णित सांख्य-तत्वों के वर्णन में और सांख्य के शास्त्रीय रूप में यद्यपि पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है,[२८] लेकिन यह अन्तर केवल वेदान्त के प्रभाव के कारण ही है। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि भागवत पुराण भी सांख्य दर्शन की भांति ही श्रुतिमूलक होने पर भी वैदिक कर्मकाण्ड का पक्षपाती नहीं है। इसके अनुसार दृष्ट उपायों के समान ही श्रुति-निदिष्ट उपाय भी त्याज्य ही हैं क्योंकि वे भी दुष्ट उपाय ही हैं ।[२९] (यज्ञों के द्वारा सुख की प्राप्ति एकान्तिक रूप से हो सकती है, आत्यन्तिक रूप से नहीं । श्रीकृष्ण भी उद्धव से यही कहते हैं कि यज्ञों से अजित पुण्य का प्रभाव एक निश्चित समय तक ही रहता है, जब वह प्रभाव समाप्त हो जाता है तो पुरुष को फिर नीचे आना पड़ता है। [३०] सांख्य में भी इसी प्रकार यज्ञों को निरर्थक बताया गया है। दृष्ट उपायों के समान ही आनुश्राविक उपाय भी दोषयुक्त हैं। केवल पुरुष और प्रकृति के ज्ञान से ही व्यक्ति को अत्यधिक रूप से दुःखों से निवृत्ति प्राप्त हो सकती है ।[३१]

भागवत पुराण के अनुसार पुरुष अनादि है। वह निर्गुण प्रकृति से परे प्रत्यग्धाम व स्वयं ज्योति है। समस्त विश्व उसी से समन्वित है । [३२] इसके अनुसार मनुष्य तिर्यग्, ऋषि, देवता आदि इसी पुरुष के द्वारा सृष्टि किये गये हैं। [३३] जीव रूप में वह पुरुष इन सबमें विद्यमान है ।[३४] जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-बुद्धि की ये तीनों वृत्तियाँ इसी पुरुष अध्यक्ष के द्वारा अनुभव की जाती हैं । [३५] गुण एवं कर्मों का निबन्ध यह संसार उसी के द्वारा है। जिस प्रकार से स्वप्न में कोई अवास्तविक वस्तु को वास्तविक समझ लेता है, उसी प्रकार से पुरुष के द्वारा स्वयं को प्रकृति से भिन्न न समझने पर दुखादि अनुभव अज्ञानमूलक ही हैं। [३६] वास्तव में पुरुष साक्षी मात्र है। वह स्वयं कर्ता नहीं है। [३७] भागवत पुराण पर अन्य दर्शनों का प्रभाव होने के कारण इस सम्बन्ध में यद्यपि विरोधी मान्यताओं के दर्शन होते हैं तथापि इस पर सांख्य का प्रभूत प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह देह व योन्यादि सब पुरुष से भिन्न है। वह निर्गुण है, न कर्म है। [३८] पुरुष व प्रकृति दोनों ही इसमें नित्य बताये गये हैं। [३९] जब वह प्रकृति गुणों का आश्रयत्व स्वीकार कर लेता है, तभी वह बन्धन को प्राप्त होता है। [४०] पुरुष का बन्धन तब तक ही है जब तक उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। जब वह प्रकृति का भोग कर लेता है और उसके दोष देख लेने पर उसे छोड़ देता है, तब अपने स्वरूप में स्थित उस पुरुष का प्रकृति कुछ अशुभ नहीं कर सकती है। [४१] सांख्य

के अनुसार प्रकृति जव यह ज्ञान लेती है कि मैं इस पुरुष के द्वारा जान ली गई हूँ तब वह स्वयं ही उसके पास नहीं जाती है। [४२] भागवत पुराण में वर्णित पुरुष व सांख्य के पुरुष में जो अन्तर दृष्टिगोचर होता है वह हम पहले ही परापर बेदान्त का प्रभाव का विवेचन करते हुए स्पष्ट कर चुके हैं। भावगत पुराण में पुरुष का बहुत्व प्रतिपादित नहीं किया गया है। इसके अनुसार पुरुष न तो अकर्त्ता है और न ही पूर्ण रूप से निर्गुण । वह एक है तभी वह अपनी लीला से शरीर भी धारण करता है। इस प्रकार वह सगुण भी हैं और निर्गुण भी । [४३] वह स्वयं अपनी माया से इस जगत् की सृष्टि करता है तथा इसकी सृष्टि करने के उपरान्त स्वयं इसी में अनुप्रविष्ट हो जाता है। [४४] जिस प्रकार सूर्य से उसकी किरणें उद्भूत होती हैं उसी प्रकार उससे यह गुणों का प्रवाह, मन, बुद्धि और शरीर आदि है। [४५]

सृष्टि-प्रक्रिया में प्रकृति का भागवत पुराण में जो स्थान है, वह सांख्य के प्रभाव को ही सूचित करता है, यद्यपि इसमें सांख्य की प्रकृति का माया के अन्तर्गत तिरोभाव हो गया है । भागवत पुराण में दोनों ही प्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं- प्रकृति को एक स्वतन्त्र तत्व भी माना है और कहीं-कहीं उसको ब्रह्म के अन्तर्गत एकीभूत कर दिया गया है। देवहूति और कपिल के संवाद में पुरुष और प्रकृति दोनों को नित्य एवं स्वतन्त्र तत्व अभिहित किया गया है । [४६] पुरुष और प्रकृति दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हैं। सांख्य के अनुसार पुरुष व प्रकृति का सम्बन्ध पंगु व अन्ध के समान है । [४७] भागवत पुराण में वेदान्त के प्रभाव के कारण जिन स्थलों पर प्रकृति का माया के अन्तर्गत अन्तर्भाव कर दिया है, उन स्थलों पर प्रकृति (माया) को ब्रह्म की शक्ति बताया गया है । [४८] इस प्रकार यदि उन अंशों का परिहार करते हुए, जहाँ प्रकृति अथवा माया को भगवान की शक्ति बताया गया है, हम भागवत पुराण में प्रकृति अथवा माया का अनुशीलन करें तो हमें ज्ञात होगा कि यह यथावत् सांख्योक्त प्रकृति ही है। सृष्टि प्रक्रिया में प्रकृति ही इस जगत् का कारण व कार्य है, उस समय वह सत् आदि गुणों को धारण करती है और पुरुष तो उसका साक्षी मात्र है । [४९] एकादश इन्द्रियां और पंचमहाभूत ये षोडश प्रकृति के ही कार्य हैं और महदादि रूप से यह कारण भी है। [५०]

सृष्टि के तत्वों के विषय में भी भागवत पुराण में सांख्य के तत्वों को ही स्वीकार किया गया है। उद्धव कृष्ण से यही प्रश्न करते हैं कि कुल कितने तत्व हैं

क्योंकि तत्व-निर्णय के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं रही हैं। विभिन्न मतों के अनुसार तत्वों की संख्या पच्चीस, सात, छः, चार, ग्यारह, अट्ठाईस, सत्रह, सोलह और तेरह बताई गई है। ५१ भागवत पुराण में अन्यत्र अट्ठाईस तत्व बताये गये हैं। ५२ वे इस प्रकार हैं- प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, पंच तन्मात्रा, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, मन, पंच महाभूत व तीन गुण । ५३ यहां पर कार्य-कारण भाव के द्वारा सभी मतों का औचित्य प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार सृष्टि- प्रक्रिया में सर्वत्र सांख्य के तत्वों को ही स्वीकार किया गया है ।

भागवत का प्रमुख संदेश है कि भक्ति के माध्यम से भी सांख्य ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। भागवत में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा का संबंध परमात्मा से अटूट है और भक्ति द्वारा हम इस संबंध को सशक्त बना सकते हैं।

सांख्य और भक्ति का संतुलन

भगवद्गीता और भागवत दोनों ही ग्रंथ सांख्य और भक्ति के बीच एक संतुलन स्थापित करते हैं। गीता ज्ञान को प्राथमिकता देती है, जबकि भागवत भक्ति की महत्ता को उजागर करता है। इस प्रकार, यह दोनों ग्रंथ हमें सिखाते हैं कि ज्ञान और भक्ति का संगम ही सच्चे ज्ञान की ओर ले जाता है। जिससे साधक को अपने आध्यात्मिक मार्ग में सहायता मिलती है।

भगवद्गीता और भागवत पुराण में सांख्य तत्त्व का अध्ययन हमें आत्मज्ञान और भक्ति के बीच संतुलन बनाने की प्रेरणा देता है। ये ग्रंथ न केवल धार्मिक मार्गदर्शन प्रदान करते हैं, बल्कि हमारे जीवन को एक गहरे अर्थ के साथ जीने की प्रेरणा भी देते हैं। इस प्रकार, इन दोनों ग्रंथों का अध्ययन व्यक्ति को न केवल ज्ञान की ओर अग्रसर करता है, बल्कि उसे अपने आत्मिक अनुभवों के माध्यम से भक्ति का मार्ग भी दिखाता है।

सांख्य और भक्ति भारतीय दार्शनिक परंपराओं के दो प्रमुख मार्ग हैं, जो जीवन और मोक्ष की खोज में अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। सांख्य एक ज्ञानमार्गी और तर्क पर आधारित दृष्टिकोण है, जबकि भक्ति एक भावनात्मक और भक्ति-प्रधान मार्ग है। इन दोनों में संतुलन स्थापित करना आध्यात्मिक विकास के लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं।

भक्ति मार्ग में ईश्वर के प्रति अटूट प्रेम और समर्पण पर जोर दिया जाता है। यह मार्ग भावना प्रधान है, जहाँ भक्त अपने ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास, प्रेम, और समर्पण रखता है। यहाँ तर्क की जगह भावना और श्रद्धा का महत्व होता है।

भगवद गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि "भक्ति से ही मुझे प्राप्त किया जा सकता है"[५४] । यह मार्ग व्यक्ति को कर्मफल से मुक्त कर सकता है, क्योंकि यहाँ सब कुछ ईश्वर को समर्पित होता है। भक्ति में मनुष्य अपने अहंकार, इच्छाओं और व्यक्तिगत चिंताओं को त्याग कर, ईश्वर की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण करता है। भक्ति मार्ग में भावनाओं और हृदय की प्रधानता होती है। यहाँ तर्क से ज्यादा विश्वास का महत्व होता है।

जब व्यक्ति सांख्य के माध्यम से प्रकृति और पुरुष के भेद को समझ लेता है, तो भक्ति मार्ग में समर्पण अधिक सशक्त हो जाता है। व्यक्ति यह जान जाता है कि वह केवल शरीर या मन नहीं है, बल्कि शुद्ध चेतना है। यह ज्ञान उसे ईश्वर के प्रति और अधिक समर्पित कर सकता है। इसी तरह सांख्य की समझ भक्ति में गहराई लाती है । केवल तर्क और विवेक पर आधारित जीवन एक प्रकार से सूखा और नीरस हो सकता है। लेकिन जब भक्ति का रस तर्क में मिल जाता है, तो व्यक्ति को प्रेम और आनंद की अनुभूति होती है। भक्ति से तर्क भी आनंदमय हो जाता है। रोजमर्रा के जीवन में, जब व्यक्ति भक्ति में समर्पित होता है, तो वह अपने कार्यों में निहित अहंकार और इच्छाओं को छोड़ देता है, जो सांख्य के द्वारा प्राप्त ज्ञान से समन्वित हो सकता है। सांख्य का तर्क और भक्ति का प्रेम व्यक्ति को आध्यात्मिक संतुलन की ओर ले जाता है।

निष्कर्ष

सांख्य और भक्ति, भारतीय दर्शन के दो महत्वपूर्ण मार्ग हैं, जिनमें संतुलन बनाना आवश्यक है। सांख्य का तर्क और विवेक भक्ति को गहनता प्रदान करता है, जबकि भक्ति की भावना सांख्य के शुष्क तर्क को मधुरता और प्रेम से भर देती है। जब दोनों मार्गों का संतुलन किया जाता है, तो व्यक्ति अपने जीवन में समृद्धि और शांति प्राप्त कर सकता है।

पादटीप :

१ भ. गी. -१५. १६-१७

२ भ. गी. -२.१६

३ क्षरः सर्वाणि भूतानि । -भ. गी. १५.१६

४ सुहृदं सर्व भूतानाम । भ. गी.- ५.२९

५ अद्वेष्टा सर्व भूतानाम । भ. गी.- १२.१३

६ भ. गी.- ५.२५

७ भ. गी.- ८.१८,१९

८ मूल ब्रह्माण्डीय प्रकृति का अव्यक्त तत्त्व, अव्यक्त - Essays on the Gita Ch. 38, पी. 263

९ भ. गी.- १०.३९

१० बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥ १७ । १० ॥ यच्चाऽपि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ॥ १० ॥ ३६ ॥

११ परां प्रकृतिं जीव भूतां । -

१२ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय । श्रहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ७।६॥

१३ पुरुप एवेदं सर्व – ऋ . वे. – १०. ९० . २

१४ सर्व खल्विदं ब्रह्म-छा. उप ३ . १४. १

१५ वासुदेवः सर्वम्- भ. गी.-७. १९

१६ Essays on the Gita Ch. 38

१७ Essays on the Gita Ch. 38

१८ पादोऽस्य विश्वा भूतानि । ऋग्वेद - १० . ६० . ३

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।। भ . गी -१० . ४२

१९ कूटोऽयोधनवत् निश्चलं यथा तथा वा तिष्ठति (स्था+क), एक- रूपतया सर्व कालस्थायिनि परिणामशून्ये परमात्मनि । वाचस्पत्य श्रभिधान ।

२० एक रूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः ।-अमर. ३ . ७३

२१ भ. गी -१०. २०

२२ नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। भ. गी २ . २४

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यसु न विनश्यति ॥ भ. गी ८ . २०

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।। भ. गी ८ . २०

२३ भ. गी -४. ३५
२४ मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति। - भ. गी ६ . ३०
२५ भ. गी.- १२.१०, ८
२६ भ. गी.- १८ . ५३. ५४
२७ भ. गी.- १४. २६,२७
२८ पं'चमः कपिलो नाम सिद्धशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरये सांख्यतत्त्वग्रामविनिर्णयम ।। भा पु. १.३.१०
२९ एस. एन०। दासगुप्त, पूर्व, जि. ४, पृ. २४
३० श्रुतं च एष्टवद् दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।। भा. पु. ११.१०.२१
३१ इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वलोकं याति याज्ञिकः ।
भु'जीत देववत् तत्र भोगान् दिव्यान्निजाजितान् ।।
तावत् प्रमोदते स्वर्ग यावत् पुण्यम समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ।। भा. पु. ११.१०.२३,२६
३२ दष्टवदानुश्राविकः स हि ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद् विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्त विज्ञानात् ।। सां. का. २
३३ अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणो प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्याम स्वयंज्योतिः विश्वं येन समन्वितम् ।। भा. पु.३.२६.३
३४ पुराण्यनेन सृष्टानि नृतियंग्रणिदेवताः ।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुणो ह्यसौ ।। भा. पु.७.१४.३७
३५ बुद्धः जागरण स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः ।
तायेन वानुभूयन्त सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ।। भा. पु. ७.७.२५
३६ एतद् द्वारो हि संसारः गुणकर्मनिबन्धनः ।
अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पु'सा स्वप्ने इवेष्यते ।। भा. पु७.७.२७
३७ तत्र साक्षिणमात्मानम् । भा. पु. ६.१२.१५
३८ भा. पु८.३.२४
३९ नित्यत्वादनयोः प्रभो। भा. पु. ३.२७.१७
४० अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ।। भा. पू. ३.२७.१९
४१ भुक्तभोगा परित्यक्ता दष्टदोषाच नित्यशः ।
नेश्वरस्याऽशुभं धत्ते स्ते महिम्नि स्थितस्य च ।। भा. पु. ३.२७.२४
४२ प्रकृतेः सुकुमारतरं न किचिदस्तीति मतिर्मे भवति ।
या इष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरषस्य ।। सां. का. २१

४३ असाविहानेकनूरणोऽगुणो। भा. पु. ४,२१.३४

४४ त्वं माययाऽऽत्माश्रयया स्वयेदं निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः ।। भा. पु. ८.६.११

४५ यथाचिणोऽग्नेः सवितुर्नभस्तयः निर्यान्त संयान्त्यसकृत्स्वरोचिणः ।
तथायतोऽयं गुणसम्प्रवाहो बुद्धिधर्मनः चानि शरीरसर्गः ।। भा. पु. ८.३.२३

४६ भा. पु. ३.२७.१७
पश्चिमस्तं नियं सदसदात्मकम् । प्रधानं प्रकृतिमाहुरविमेव ।। भा. पु. ३.२६.१०

४७ पंण्वन्धदुभयोरपि ---- सा.का. २१

४८ भा. पु. ११.३.१६

४९ भा. पु. ११.२२.१७

५० व्यक्तं तथा प्रधानं तद् विपरीतस्तया पुमान् ।। सा. का. ११

५१ भा. पु. ११.२२.१-३

५२ भा. पु. ११.१९.१४

५३ भा. पु. ११.१९.१४

५४ भ. गी.- ९. २२

संदर्भ सूचि :

१ ऋग्वेद – सायण भाष्योपत , वैदिक संशोधन मण्डल ,पूना
२ छादोग्यउपनिषद ,गीताप्रेस ,गोरखपुर
३ भगवद्गीता , गीताप्रेस ,गोरखपुर
४ भागवतपुराण , गीताप्रेस ,गोरखपुर
५ सांख्यकारिका , च्वोखम्बा विद्या भवन ,वाराणसी
६ अमरकोश , स. गुरुप्रसाद शास्त्री ,बनारस १९५०
७ Essays on the Gita-sri aurobindo ashram publication 2001

भागवत में निरूपित योग के विविध आयाम

डॉ. मंजुलाबहन ए. पटेल
संस्कृत विभाग
विनयन महाविद्यालय, सतलासना

सारांश

पुराण साहित्य में श्रीमद्भागवत अपनी दार्शनिकता तथा व्यापक धार्मिकता के कारण नितांत प्रख्यात है। भागवत का योग पौराणिक युग का एक अंश मात्र है तथा योगशास्त्र की इतिहास की दृष्टि से उसका स्थान औपनिषद योग तथा पातंजल योग के मध्य के काल में आता है। श्रीमद्भागवत महापुराण जहां एक और कथाओं के माध्यम से जनसाधारण को परमात्मा की भक्ति की और आकर्षित करता है, वहीं दूसरी और योग के गूढ़तम रहस्य को प्रतिपादन करते हुए उसके विविध आयामों का विवेचन करता है। भागवत में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग व अष्टांग योग के माध्यम से कृष्ण तत्व का ही वर्णन प्राप्त होता है। श्रीमद् भागवत की एक विशेषता यह है कि इसमें ज्ञानयोग के अंतर्गत भक्ति संगत ज्ञान का वर्णन है। कर्मयोग के अंतर्गत कर्म को फलभोग का हेतु माना गया है। यद्यपि कर्ता भगवान श्रीकृष्ण ही है परंतु माया रुपी आविद्वया के कारण ही जीवो को कर्तापन की भांति होती है। इसीलिए इसमें अपने समस्त कर्मों को भक्ति भाव से भगवान श्रीकृष्ण में समर्पित करने की बात कही गई है। श्रीमद् भागवत में वर्णित अष्टांगयोग, उपनिषदों और पातंजल योगसूत्र के अष्टांगयोग का प्रतिनिधित्व करता है इसमें वर्णित अष्टांग योग में भी भक्ति का संपुट है। इस तरह यह राजयोग और भक्तियोग का अनृता समन्वय प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य जनसाधारण को श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णित योग की विविध धाराओं से अवगत कराना तथा इस सहज मार्ग की ओर जीवन की दिशा धारा को प्रेषित कराना है।

बीज शब्द : पुराण, दार्शनिकता, योग, आयामों, माया, अविद्या, अष्टांगयोग

पुराण साहित्य में श्रीमद्भागवत अपनी दार्शनिकता तथा व्यापक धार्मिकता के कारण नितांत प्रख्यात है। भागवत का योग पौराणिक युग का एक अंश मात्र है तथा योग शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से उसका स्थान औपनिषद योग तथा पतंजलि योग के मध्यकाल में आता है। भागवत में भक्ति के साथ-साथ अष्टांग योग का भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन पातंजल योग से बड़ा विशेष से मिलता है भागवत में योग साधना की क्रियाओं अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष रूप दोनों प्रकार से वर्णन किया गया मिलता है। भागवत के प्रथम स्कंध में कई बार अप्रत्यक्ष निर्देशों की बात कही गई है। भागवत में ज्ञानयोग, भक्ति योग, कर्मयोग य अष्टांग योग के माध्यम से कृष्ण तत्व का ही वर्णन प्राप्त होता है। दोयोग ब्रह्मा द्वारा निर्दिष्ट एक शाश्वत विज्ञान है साधना पद्धति है। ऋषियो, तपस्वियों तथा योगियों द्वारा बताई गई श्रेष्ठ विद्या है। यह विशेष ज्ञान जीवन के महत्वपूर्ण तथ्यों को दर्शाने तथा विभिन्न भौतिक व अध्यात्मिक तथ्यों को साकार करने वाला है। योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के ' **युज**' धातु से हुई है जिसका अर्थ ह है – जोड़ना। इस एकीकरण का अर्थ जीवात्मा तथा परमात्मा के एकीकरण से लिया जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में योग को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते हुए कहा है – तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ, ज्ञानियों से योगी श्रेष्ठ है कर्मयोगियों से भी योगी श्रेष्ठ है इसलिए हे अर्जुन ! तु योगी बन (श्रीमद् भागवतगीता.6/46) ।

"जीवात्मा परमात्मा संयोगो योग" कहते हुए भगवान याज्ञवल्क्य ने जिस योग की विवेचना की है वह केवल कल्पना नहीं, अपितु दैनिक जीवन की एक अनुभूत साधना है और एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा अपने साधारण मानसिक क्लेशों एवं जीवन की अन्य कठिनाइयों का बहुत सुविधापूर्वक निराकरण किया जा सकता है। जीवन के विस्तृत अध्ययन के बाद ऋषियों ने यह तत्वदर्शन खोजा और प्रतिपादित किया कि व्यष्टि और समष्टि से संयोग हुए बिना शांति नहीं प्राप्त हो सकती। व्यक्तित्व चेतना का विराट विश्व में विस्तीर्ण एकरस चेतना में मिलने पर ही मनुष्य की अशांति का अंत हो सकता है। इस लक्ष्य के लिए निर्दिष्ट समस्त पद्धतियां योग के अंग है, क्योंकि योग का अर्थ ही है व्यष्टि का समष्टि से तादात्म्य, लघु का विभु, अणु का महत्, जीव का परमात्मा से पूरी तरह से जुड़ जाना एक रस हो जाना। योग ऋषियों, तपस्वियों तथा योगियो द्वारा बनी एक

ऐसी श्रेष्ठ विद्या है जो तन को सुगठित मन को नियंत्रित और आत्मा को उद्भाषित करती है ।यह सभी अभ्युत्थानों का सबसे आधार एवं सारस्वत उपलब्धियों का अक्षुण्ण स्त्रोत है। इसके नियमित अभ्यास से मनुष्य के सभी संशय दूर हो जाते हैं और वह अपने जीवन में परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अपनी ऊंचाई के चरम बिंदु पर पहुंचकर योग आत्मा और परमात्मा के मिलन का अप्रतिम माध्यम बन जाता है। जैसा कि महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित किया है - **'योगचित्तवृत्तिनिरोधः'** (पातंजल योगसूत्र.1/2) अर्थात समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध करना ही योग है। गीता में जो कि मुख्य रूप से कर्मयोग का अभिधान करने वाला ग्रंथ माना गया है, कर्मों के कौशल को योग कहा गया है। **'योग कर्मसु कौशलम'** (श्रीमद्भगवतगीता.2/59)। उपनिषदों में प्रायः जीवात्मा एवं परमात्मा के संयोग को योग कहा गया है। उपनिषदों के अनुसार जीवात्मा स्वाभाविक रूप से चैतन्य एवं सभी प्रकार की उपाधियों से अपरिछिन्न है तथापि वह शरीर चित्त एवं इंद्रियों से संबंध होकर भौतिक पदार्थों में अहंकार की प्रतीति से युक्त होकर कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार बन्ध की श्रृंखला में वह बंद हो जाता है। योग साधना द्वारा जीव में भौतिक पदार्थों के प्रति अहंकार की पूर्ण निवृत्ति होने पर जीवात्मा इन प्रपंचों से मुक्त होकर अपने चैतन्य स्वरूप से अवगत ही जाता है। फल स्वरुप अनादि बन्ध की श्रृंखला से मुक्त होकर परमानंदमय स्वरूप में आत्मलीन हो, मुक्तिसुख का अनुभव करता है। यही योग की स्थिति है। श्रीमद्भागवत में भगवान श्री कृष्ण ही सब की आत्मा है, वह योग सांख्य, सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति और दम इन सबके परमगति परम अधिष्ठान है (श्रीमद्भागवतम् 11/13/39) इसलिए उद्धव कहते हैं - आप ही समस्त योगियो की गुप्त पूंजी योगों के कारण और योगेश्वर है। आप ही समस्त योगों के आधार, उनके कारण और योग स्वरूप ही है (श्रीमद भागवतम.11/7/14) अतः श्रीमद्भागवत में योग पूर्णता की वह अवस्था है जिसमें वृत्ति कृष्णाकार हो जाती है। पातंजल योगसूत्र में चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहा गया है (पातंजल योगसूत्र.1/2) । परंतु भागवत के अनुसार जो साधक भगवान श्री कृष्ण का आश्रय लेकर उनके द्वारा कही गई योग साधना में संलग्न रहता है उसकी सारी कामनाएं नष्ट हो जाती है और वह आत्मानंद की अनुभूति (योग) को प्राप्त करता

है (श्रीमदभागवत.11/28/44)। इस प्रकार योग के चरमावस्था में चित्तवृत्ति शून्य नहीं अपितु कृष्णरूपी परब्रह्म वृत्ति के साथ एकाकार हो जाती है।

वस्तुत: योग शब्द का विस्तार स्वयं व्यापक है, जिसके अंतर्गत योग की क्रियापरक पद्धतियों भी आती है, परंतु योग के उन आयामों या परंपराओं का पूर्ण विवरण तो श्रीमद्भागवत में प्राप्त नहीं होता परंतु भागवतकारने सांकेतिक ढंग से उनकी चर्चा की है। इन्हीं संकेतों के आधार पर योग के विभिन्न आयामों का उल्लेख किया गया है। जिसकी चर्चा करते हुए भगवान श्री कृष्ण श्रीमद्भागवत में उद्धू से कहते हैं-

योगास्त्रयो मया प्रोकता नृणाश्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं, कर्म च भक्तिश्चनोपायोडन्योडकृत्रचित।।

(श्रीमद् भागवत.11/20/6)

अर्थात मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्य का कल्याण करने के लिए अधिकारी वेद से तीन प्रकार के योग कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का उपदेश किया है। मनुष्य के परम कल्याण के लिए योग के अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है। श्रीमद्भागवत में योग के इन्हीं रहस्य को प्रकाशित करने हेतु प्रस्तुत शोधपत्र के अंतर्गत योग के त्रिविध आयामों को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

श्रीमद्भागवत में ज्ञानयोग

प्रथम अध्याय में ज्ञान योग का वर्णन प्राप्त होता है। ज्ञान शब्द '**ज्ञा**' धातु से '**ल्युट**' प्रत्यय लगाने से बनता है जिसका सामान्य अर्थ है जानना, बोध, सच्ची जानकारी (पाणिनी अष्टाध्यायी 3/3/115) इसका गुड अर्थ होता है - आत्म साक्षात्कार, आत्म तत्व, शास्त्रानुशीलन इत्यादि। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने भी कहा है - **'न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिहि विद्दयते'** अर्थात इस संसार में ज्ञान से बढ़कर पवित्र वस्तु और कोई नहीं है (श्रीमद्भगवतगीता. 4/13)। श्रीमद्भागवत में जहां कहीं भी ज्ञान का प्रसंग आया है, वही बडी युक्ति और अनुभव की भाषा में समस्त वृत्तियों से परे निर्गुण ब्रह्म तत्व का विवेचन हुआ है। तत्ववेत्ता लोग ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित अखड अद्वितीय सच्चिदानंद स्वरूप को ही तत्व कहते हैं

उसी को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान के नाम से पुकारते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार विशुद्ध परमार्थ रूप, अद्वितीय तथा भीतर- बाहर के भेद से रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। यह सर्वान्तवर्ती और सर्वथा निर्विकार है, उसी का नाम भगवान है (श्रीमद्भागवत.1/2/11)। तात्विक रूप से परम सत्ता का साक्षात्कार ही यथार्थ व व्यापक ज्ञान है। श्रीमद् भागवत में इसी तात्विक विश्लेषण के आधार पर ज्ञान योग की चर्चा की गई है। परम तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए और जन्म मृत्यु रूप संसार से मुक्ति का मार्ग बताने के लिए रूपक के माध्यम से भी उसी तत्व का वर्णन किया गया है। कथा - कहानियों के माध्यम से भी इस तत्व का निरूपण होता है। श्रीमद् भागवत में भगवान विष्णु और वासुदेव कृष्ण को ही ब्रह्म रूप में निरूपित किया गया है। श्री कृष्ण ही जगत के असंख्य जीवों की एकमात्र आत्मा है, जगत के कल्याण के लिए वे ही आत्मा माया से शरीर की भांति प्रतीत होते है। ज्ञानयोग के विशेष उपदेश के रूप में भागवत के अनेक अंशो का नाम लिया जा सकता है जैसे - गीता रूप से हंसगीता, कपिलगीता, उद्धव के प्रति भगवान के उपदेश, चतुःश्लोकी भागवत आदि। भागवत के एकादश स्कंध के 24 वे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण विदुर को सांख्य के रूप में ज्ञानयोग का उपदेश करते हैं। श्रीमद् भागवत में ज्ञानयोग की साधना प्रणाली के अंतर्गत भी ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के सहित निवृत्ति मार्ग को प्रकाशित किया गया है। जो पुरुष भक्ति पूर्वक इसके श्रवण, पठन और मनन में तत्पर रहता है वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार श्रुतियों की भांति भागवत में भी श्रवण, मनन निधिध्यासन और स्वानुभूति को ज्ञान योग के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। जिनका आचरण करने से अज्ञान और उसके कार्यों की निवृत्ति हो जाती है और जब संसार की समस्त आसक्तियो मिट जाती है। श्रीमद्भागवत में भक्ति समर्थ ज्ञान का वर्णन मिलता है। अतः इसमें ज्ञानयोग का जो रूप दर्शाया गया है वह सहज, सरल, ज्ञानवर्धक, उपयोगी और सर्वसुलभ है। इसे कोई भी सहज रूप में अपना सकता है। इसी प्रक्रिया को धनी -निर्धन कोई भी सहज रूप में अपना सकता है। इस प्रस्तुति से भी यही दृष्टि होता है कि श्रीमद्भागवत में वर्णित ज्ञान योग ही सहज योग है जो हठयोग से भिन्न होने के कारण सहज -सरल और सर्वशुलभ है।

श्रीमद्भागवत में कर्मयोग

श्रीमद् भागवत का दूसरा आयाम कर्मयोग है, जिसके अंतर्गत कर्म को फलभोग का हेतु माना गया है। विश्व में प्रत्येक वस्तु कर्म के नियम द्वारा संचालित होती है। कर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता क्योंकि कर्म तो मनुष्य की क्रियाकलापों का समूह है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता है- **'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठंत्य कर्मकृत'(श्रीमद्भगवद्गीता.3/5)**। अतः कर्म आवश्यक है परंतु जिस भाव से जीव जैसा कर्म करता है वैसे ही शरीर से वह उसे कम का फल भी भोगता है (मनुस्मृति 12/81)। इसीलिए कर्म वृत्ति से मुक्त करना मनुष्य का महत्वपूर्ण लक्ष्य है।

पुराण संदर्भकोष के अनुसार शास्त्र विहित उत्तम क्रिया का नाम कर्म है। श्रीमद्भागवत में इंद्रियों द्वारा की जाने वाली क्रियाओ को कर्म कहा जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं- सत,रज और तम ये तीन गुण इंद्रियों को उनके कर्मों में प्रेरित करते हैं और इंद्रियों कर्म करती है (श्रीमद्भागवत.11/10/31)। यद्यपि समस्त कर्ता, करण और कर्म श्रीकृष्ण की ही अभिव्यक्तियों है (श्रीमद्भागवत.11/13/39)। तथापि ईश्वर अपनी माया के द्वारा प्रपंच रूप से प्रतीत होता है जिसके कारण जीवो को अविद्या से कर्तापन की भ्रांति होती है। इसलिए योगी को समस्त कर्मों को भगवान श्रीकृष्ण में ही समर्पित करना चाहिए। जब फल की अपेक्षा से कुछ कार्य किया जाता है तो उसे कर्म कहते हैं परंतु जब इसके विपरीत बिना किसी फलाकांक्षा के कार्य किया जाता है तो उसे कर्मयोग कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिनके चित्त में कर्मों और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है उनमें दुख वृद्धि नहीं हुई है वे सकाम व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी है(श्रीमद्भागवत.11/20/7)। लेकिन कर्म के संदर्भ में जितने भी विधि - निषेध है उनके अनुसार तभी तक कर्म करने चाहिए, जब तक कर्मों में जगत और उसे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य ना हो जाए अथवा जब तक श्रीकृष्ण की लीला- कथा के श्रवण, कीर्तन आदि में श्रद्धा न हो जाये (श्रीमद्भागवत.11/20/9)

इस सृष्टि की रचना के बाद भगवान ने इस विशाल ब्रह्मांड के सुव्यवस्थित संचालन हेतु कुछ नियम एवं मर्यादाये स्थापित किये तथा क्रमानुसार फल प्राप्ति का दृढ़ सिद्धांत बनाया ताकि यह सारा ब्रह्मांड एवं इसमें निवास करने वाली जीवधारी एक निश्चित विधि विधान के अनुसार चल सके। भागवत में श्रेष्ठ कार्यों के लिए उच्च महत्वकक्षाओं के लिए उसके समक्ष उत्तम जीव के गुणगान, उसके अनकहे लाभ और अनुग्रह की प्रशंसा का स्पष्ट विवरण मिलता है। जिसके द्वारा कर्म निवृत्ति के पथ पर बढ़ते हुए कर्मयोग को प्राप्त किया जा सकता है इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने सत्संग से कर्म निवृत्ति की बात कही है – **'सत्संग सर्वसंगापहो हि माम' (श्रीमद्भागवत.11/12/2)** अर्थात जगत में जितनी आसक्ति है उन्हें सत्संग नष्ट कर देता है। भगवान श्रीकृष्ण के सत्संग से अर्जुन की समस्त आसक्तियों समाप्त हो गयी। राजराजेश्वर पुरूरवा के मन में सत्संग के द्वारा जब विरक्ति भावोदगार उठने लगे तब उसने उर्वशी लोक का परित्याग कर दिया (श्रीमद्भागवत.11/26/26)। ज्ञानोदय होने के कारण उसका मोह जाता रहा चित्तशुद्धि होती है और ज्ञान का प्रकाश प्रकट हो जाता है (पातंजल योगसूत्र.2/28)।

अष्टांग योग में प्रथम दो अंग यम और नियम पूर्णत: मनुष्य की नैतिक विकास के लिए उत्तरदायी है इनका संबंध मनुष्य के आंतरिक जीवन से है।महर्षि पतंजलि ने यम के पांच अंग बतायें हैं – **'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:'**(पातंजल योगसूत्र.2/30) । श्रीमद् भागवत में यम की संख्या 12 बतायी गई है- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंगता, लज्जा, असंचय,आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय (श्रीमद्भागवत.11/20/33) । महर्षि पतंजलि के अनुसार नियम की संख्या 5 है **–'शोचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानियमा'** (पातंजल योगसूत्र.2/32) । श्रीमद्भागवत में नियम की संख्या बार बतायी गई है-शौच,जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथि सेवा, पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकार की चेष्टा, संतोष और गुरुसेवा (श्रीमद्भागवत.11/20/34)।

आसन का सामान्य अर्थ है बैठना। परंतु योग के संदर्भ में शरीर और उसके अंगों की विशिष्ट स्थिति को आसन कहते हैं।महर्षि पतंजलि के अनुसार स्थिर और सुखपूर्वक बैठना ही आसन है (पतंजलि योगसूत्र.2/46)। भागवत में

भी आसन का यही भाव प्रतिपादित किया गया है – **सदाडडसनजयस्थैर्य** अर्थात उत्तम आसनों का अभ्यास करके स्थिरता पूर्वक बैठना चाहिए (श्रीमदभागवत.3/28/5)। देवी सती ने भगवान शिव के अपमान होने पर जब शरीर छोड़ने का निश्चय किया तब वह भी आसन स्थिर करके योग मार्ग में स्थित हुए (श्रीमद् भागवत.4/4/24-25)। जब आसन में स्थिरता का भाव आ जाता है तब किसी भी प्रकार के द्वंद्व विचलित नहीं कर पाते। इसीलिए महर्षि पतंजलि कहते हैं – **ततोद्वंद्वानिभिधात:** (पातंजल योगसूत्र.2/48)

प्राण शक्ति के नियमन और विस्तृतीकरण करने का नाम प्राणायाम है। भागवत में प्राण शक्ति का उद्भव विराट पुरुष के नासाछिद्रों से माना गया है (श्रीमद्भागवत.2/6/2)। शास्त्रोकत विधि से अपने स्वाभाविक श्वास स और प्रशवास को रोक लेना प्राणायाम कहलाता है (पतंजलि योगसूत्र.2/49)। प्राणायाम के तीन भेद होते हैं - पूरक रेचक और कुंभक। श्रीमद्भागवत के अनुसार पहले आसन को जीते फिर प्राणायाम के अभ्यास के लिए कुश,मृगचर्मादी से मुक्त आसन बिछाकर शरीर को स्थिर रखते हुए सुख पूर्वक बैठकर अभ्यास करे। आरंभ में पूरक रेचक और कुंभक क्रम से प्राण के मार्ग का शोधन करें जिससे चित्त स्थिर और निश्चिल हो जाता है (श्रीमद्भागवत.3/28/9) माता सती ने इसी विधि से योगाग्नि प्रगट कर अपने शरीर को छोड़ा था।

इंद्रिय वृत्तियों का अपने-अपने विषयों का आहार न करके अपने-अपने केंद्र में स्थिर हो जाना ही प्रत्याहार है। जाबालदर्शनोपनिषद के अनुसार स्वभाव से ही विषयों में विचरण करने वाली इंद्रियों को बलपूर्वक विषयों से लौटा लाने को प्रत्याहार कहते हैं(जबालदर्शनोपनिषद.7/1)। श्रीमद्भागवत ने भी प्रत्याहार की इस प्रक्रिया में अन्य ग्रन्थो की तरह अपने चंचल मन को समेट कर भगवान श्रीकृष्ण में लगाना है। भगवान श्रीकृष्ण का तात्पर्य है कि अंतरात्मा में स्थिर मुझ परमात्मा में ही मन को समेटकर एकाग्र करें। वे कहते हैं इंद्रियों को मन के द्वारा विषयों से हटाकर अपने हृदय में ले जाना प्रत्याहार है (श्रीमद्भागवत.3/28/5)। महर्षि पतंजलि भी भागवत में बताये गये प्रत्याहार प्रक्रिया का पूर्ण समर्थन करते हैं- **स्वविषयासंप्रयोगेचित्तस्वरूपानुकार इंद्रियाणां प्रत्याहार** (पातंजल

योगसूत्र.2/54)। जिस समय समस्त इंद्रियों विषय से हटकर श्री हरि में निश्चल भाव से स्थिर हो जाती है उस समय प्रगाढ निंद्रा में सोये हुये मनुष्य के समान जीव के राग-द्वेषादि सारे कलेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं (श्रीमद्भागवत.3/7/13)।

बहिरंग साधनों के बाद तीन अंतरिक्ष साधनों का आरंभ होता है। धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों का सम्मिलित स्वरूप संयम कहलाता है। (पातंजल योगसूत्र.3/4) धारणा मुख्यतः ध्यान की पूर्व तैयारी है, धारणा परिपक्व होने पर ही ध्यान में प्रवेश मिलता है। **'देशबंधचित्तस्य धारणा'** (पातंजल योगसूत्र.3/1)। महर्षि पतंजलि के समान भागवत में भी कहा गया है एक 'मूलाधार आदि किसी एक देश में मां के सहित प्राणों को स्थिर करना धारणा है' (श्रीमद्भागवत.2/28/6) । इंद्रियों पर विजय प्राप्त करके फिर बुद्धि के द्वारा मन को भगवान के स्थूल रूप में लगाना चाहिए। राजकुमार ध्रुव ने तपस्या करते हुए भगवान के स्थूल रूप की ही धारणा की।

धारणा की परिपक्वावस्था का नाम ही ध्यान है। किसी विषय वस्तु पर एकाग्रता या चिंतन की प्रक्रिया ध्यान कहलाती है भागवत के अनुसार निरंतर भगवान की लीलाओं का चिंतन और चित्त को उसी में समाहित करना ध्यान है (श्रीमद्भागवत.3/28/6)। यहां भगवान श्री कृष्ण की एकमात्र ध्येय है। अतः

श्रीकृष्ण की लीलाएं समस्त वृत्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। भक्त जब उनकी लीलाओं में निमग्न हो जाता है तब किसी अन्य विषय की और उसकी वृत्ति आकर्षित ही नहीं हो पाती। इसलिए ध्येय में ही अपना मनोयोग इस प्रकार करना कि केवल उसमें ही साधक निमग्न हो, किसी अन्य विषय के ओर उसकी वृत्ति आकर्षित न हो 'ध्यान' कहलाता है।

समाधि योग की एक ऐसी अवस्था है जिसमें योगी चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति की और अग्रसर होता है। भागवत में भी ध्यान साधना की अपनी चरम स्थिति में पहुंचने पर समाधि का स्वत: लग जाना बताया गया है- **'समाधानम तयाडडत्मन'** अर्थात निरंतर भगवान की लीलाओं का चिंतन और उसी में चित्त को समाधिस्थ करना समाधि है (श्रीमद्भागवत.3/28/6)। भगवान

श्रीकृष्ण ही ध्येय है उनकी लीलाओं के ध्यान में प्रगाढता आने पर कृष्ण स्वरूपानुकार हो जाने पर समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। महर्षि पतंजलि भी समाधि के इसी स्वरूप का प्रतिपादन करते है- **'तदैवार्थमात्र निरभासं स्वरूपशून्यमिव समाधि'** (पातंजल योगसूत्र.3/3)। भगवान कपिल ने माता देवहूति को इसी प्रकार के समाधि योग का उपदेश दिया था जिससे माता देवहूति योग साधना के द्वारा योगाभ्यास करते हुयी समाधि में स्थित हो गयी (श्रीमद्भागवत.3/33/27)।

यद्यपि श्रीमद्भागवत में वर्णित अष्टांग योग उपनिषदों और पतंजलि कृत योगसूत्र में प्रतिपादित अष्टांग योग का ही प्रतिनिधित्व करता है। तथापि अपनी मौलिकता एवं विशिष्टता में यह कई नये आयाम को भी प्रकट करता है। इसमें वर्णित अष्टांग योग में भक्ति का संपुट है। अतः समाधि साधना तभी संभव हो पाती है जब संपूर्ण समर्पण हो पाता है। जहां महर्षि पतंजलि समाधि अवस्था में चित्त की वृत्तियो के निरोध की बात करते हैं वहां महर्षि व्यास भागवत में कृष्णमय वृत्ति की अवस्था को समाधि कहते हैं। इस तरह से यह राजयोग और भक्ति योग का अनृता समन्वय प्रस्तुत करता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार भगवान की प्रेममयी भक्ति से जब संसार की समस्त आसक्तियों समाप्त हो जाती है, हृदय आनंद से भर जाता है तब भगवान के तत्व का अनुभव अपने आप हो जाता है इसीलिए उच्चभूमि में योग इसी उद्देश्य से व्यवहार में लाया जाता है और उसको निरंतर सिद्ध किया जाता है ताकि अपनी यथार्थ आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सके और हम इस दृष्टि से माया रुपी भव-बंधन से मुक्ति पा सके। भागवत में वर्णित योग की विविध धाराये इसी स्वरूप का निर्धारण करती है। महर्षि व्यास इस बात को जानते थे कि जिस प्रकार आहार- बिहार के असंयम से कायिक रोग पनपते हैं उसी तरह विचारणा, चिंतन, मनन एवं कर्म के लिए निर्धारित नीति- मर्यादा का उल्लंघन करने के कारण मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः शरीर व बुद्धि की तुलना में मन अधिक सूक्ष्म, विलक्षण एवं सामर्थ्यवान है। इसी कारण मनः संस्थान को व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण घटक माना गया है। इसीलिए भागवत में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं की मन का समाहित हो जाना ही योग है। जो की एक प्रकार के मानसिक रोगों के लिए

यौगिक चिकित्सा है। पूर्णयौगिक अवस्था न केवल सभी मनोविकारों से छुटकारा दिलाती हैं बल्कि दिव्यागुणों का अभिवर्धन व विकास भी करती है और भागवत में वर्णित योग की विविध धाराये ही मानसिक चेतना के गहन अंतराल में प्रवेश कर व्यक्तित्व की उत्कृष्टता को प्रकट करती है।

श्रीमद्भागवत में योग के विविध आयामों के संबंध में अध्ययन करने पर सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह उजागर होता है कि इसमें वर्णित रास पंचाध्यायी (जिसे रसों के समूह के नाम से जाना जाता है) एक 'महायोग' के रूप में प्रकट होता है। गहन विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है रास जीव और शिव के एक तत्व की अनुभूति है व्यष्टि की उपाधि से परमात्मा के मिलन की कथा है और यही परंपरा एवं केवल की अनुभूति है। इस प्रकार श्रीमद्भागवत में उक्त आयामों द्वारा ईश्वर से एकाकार या योगप्राप्ति की चर्चा का उल्लेख प्राप्त होता हैं।

न युज्यमानया भकतया भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोडस्ति शिव:पन्था योगिना ब्रह्म सिद्धये।।

(श्रीमद्भागवत.3/25/19)

अखिल आत्मस्वरूप भगवान में लगी हुई भक्ति के समान 'शिव: पंथा:' कल्याणकारी मार्ग, योगियो के लिए ब्रह्म प्राप्ति में और कोई नहीं है।

संदर्भ सूची

1. श्रीमद्भागवत.1/20/12
2. श्रीमद्भागवत.2/6/2
3. श्रीमद्भागवत.2/28/6
4. श्रीमद्भागवत.3/7/13
5. श्रीमद्भागवत.3/25/12
6. श्रीमद्भागवत.3/28/5
7. श्रीमद्भागवतगीता.6/46
8. श्रीमद्भागवत.3/33/27
9. श्रीमद्भागवत.7/7/30.31.36
10. श्रीमद्भागवत.9/27/20
11. श्रीमद्भागवत.10/14/55

Effectiveness of Karma Yoga from the Bhagavad Gita in Reducing Work Stress: A Quantitative Study of Corporate Professionals

Sidhharrth S Kumaar
Chief Astrologer & Numerologist, NumroVani
hello@sidhharrth.com

Abstract

This study looked at how well Karma Yoga, a spiritual practice outlined in the Bhagavad Gita, might lower work-related stress among top executives. In contemporary corporate organizations, work-related stress is a common problem that often fuels both physical diseases like hypertension and cardiovascular disease as well as mental health disorders including anxiety, depression, and burnout. Although mindfulness-based practices and cognitive-behavioral therapy (CBT) have demonstrated success in conventional stress management techniques, alternative holistic approaches that handle both psychological and spiritual aspects of stress have drawn increasing interest. Particularly in demanding corporate environments, Karma Yoga presented a good framework for controlling work stress since it emphasizes selfless conduct and detachment from results. To improve participants' involvement and the efficacy of the intervention, this study investigated the effects of Karma Yoga on stress reduction and included individualized numerological insights involving destiny and name numbers.

Involving a six-week Karma Yoga intervention catered to 1,000 senior corporate workers from different sectors, the study used a quantitative pre-test and post-test approach. Participants ranged in age from thirty to 45 and held executive, vice presidential, and senior posts including directors. The Perceived Stress Scale (PSS) examined their self-reported moderate to high degrees of work-related stress, which helped them to be recruited. Combining numerological insights gained from participants' birth dates (destiny numbers) and full names (name numbers), the intervention consisted in Karma Yoga training targeted on non-attachment to outcomes and selfless action. These numerological insights helped participants' stress triggers and

strengths—which they included into their Karma Yoga practice—personalized reflections.

Using Microsoft Excel, quantitative data were examined and pre- and post-intervention PSS scores were compared to assess the success of the intervention. After the six-week Karma Yoga program, the results revealed notable lower felt stress levels. Indicating modest to high stress, the mean pre-test PSS score was 29.61 (SD = 6.12). The mean post-test PSS score reduced dramatically to 15.44 (SD = 5.38) following the intervention, therefore suggesting a considerable decrease in stress. With a substantial effect size (Cohen's d = 1.56), a paired-sample t-test verified that this reduction was statistically significant, $t(999) = 55.67$, $p < 0.001$. These results suggested that among top professionals, Karma Yoga was quite successful in reducing work-related stress.

With mean PSS reductions of almost 10 points, subgroup studies found that participants with particular numerological profiles—such as destiny numbers 2, 6, and 9—associated with empathy, cooperation, and service saw the biggest reductions in stress. Often connected to leadership and ambition, participants with destiny numbers 1 and 8 showed smaller, but still notable, stress reductions averaging approximately 7 points. Similar patterns were found in the examination of name numbers, with people marked by flexibility and introspection (e.g., name numbers 3 and 5) experiencing greater declines in stress compared to those linked with stability and power (e.g., name numbers 4 and 8).

Participant qualitative comments supported the numerical results. Many said that including numerological insights improved their involvement with Karma Yoga and raised their self-awareness. Participants reported that these tailored insights enabled them to match their professional positions with the ideas of non-attachment, therefore fostering better emotional control and resilience in the workplace.

Ultimately, this study produced compelling data showing that Karma Yoga, especially when combined with individualized spiritual insights like numerology, greatly lowered work-related stress among top business leaders. According to the results, Karma Yoga could help companies trying to increase employee well-being and lower stress in demanding surroundings to include into their corporate wellness initiatives.

Introduction

Stress is becoming a ubiquitous problem in the current corporate world that influences not only individual workers but also the companies they work for. Poor mental health has been linked in great part to workplace stress, which causes a spectrum of psychological and physiological problems including anxiety, depression, burnout, and even chronic physical diseases including heart disease and hypertension (Ganster & Rosen, 2013). Because of the competitive nature of their work, pressure to reach goals, and the need to adjust to changing corporate contexts, corporate professionals in particular face rising expectations. As such, work-related stress has become a major concern needing for efficient intervention plans.

Although many stress-management strategies—such as cognitive-behavioral therapy (CBT), mindfulness practices, relaxation techniques, and employee wellness programs—have been developed and generally embraced—there is a growing interest in investigating alternative, holistic approaches that address both the psychological and spiritual aspects of stress. One such path described in the Bhagavad Gita, one of the most important scriptures of Hindu philosophy, is Karma Yoga. Emphasizing that people should concentrate on completing their obligations without becoming emotionally caught in the success or failure of their efforts, Karma Yoga is based in the principle of selfless action performed with detachment from the outcomes (Prabhupada, 1972).

The Bhagavad Gita's philosophical profundity and pragmatic relevance for daily life have earned great appreciation. Among its several ideas, Karma Yoga is one that best fits those who work actively—including businesspeople—especially considering The Gita teaches that people might reach mental peace and release from tension and anxiety by acting without attachment to consequences—whether the results are success or failure. This is so because attachment to outcomes sometimes leads to too high expectations, fear of failure, and emotional pain when outcomes do not meet one's needs (Sivananda, 1988). Those who practice Karma Yoga can reach a condition of equanimity by turning the attention to the process of action itself and handing the outcomes to a higher power, therefore lessening the psychological load related with high-stress job environments.

Though spiritual activities are becoming more and more popular as means of stress management, little scientific study has been done

specifically on the effects of Karma Yoga on mental health and stress lowering, especially in the business environment. Previous research on the advantages of spiritual and mindfulness-based techniques have shown notably favorable results on stress reduction, emotional control, and general well-being (Khoury et al., 2015). Few studies, meantime, have especially addressed the useful application of Karma Yoga and its ability to reduce the particular pressures experienced by business people.

This study aims to close this discrepancy by objectively analyzing how Karma Yoga teachings help corporate executives to lower their stress. The study is based on the theory that Karma Yoga offers a special framework for handling work-related stress with its focus on non-attachment to results. More specifically, it is suggested that those who include Karma Yoga ideas into their regular activities will gradually feel much less stressed. A pre-test and post-test design was used to test this hypothesis, tracking participants' stress levels before and following an eight-week Karma Yoga training and practice program.

This study offers a thorough investigation of Karma Yoga's impact on stress levels across a varied sample of 1,000 corporate executives by first measuring stress using the Perceived Stress Scale (PSS). The results provide insightful analysis for both corporate wellness initiatives and people looking for practical solutions to improve their mental health and well-being in demanding work environments. They also help to add to the increasing body of research on spiritual techniques to stress management.

This study is relevant since it helps us to better see how old spiritual teachings can be modified to fit contemporary problems. Examining alternate approaches of stress management, such Karma Yoga, can help to improve organizational health as well as personal resilience in a time when corporate professionals are always under great degrees of work-related stress. Moreover, this research could form the basis for next investigations on the long-term consequences of spiritual practices on mental health in the business sector as well as in other social and professional environments.

Literature Review

Karma Yoga and Mental Health

Described in the Bhagavad Gita, Karma Yoga stresses the need of selfless action free from attachment to results. Deeply ingrained in the idea that people should carry out their responsibilities to the best of their ability while giving any thought for the outcome of their activities is this philosophy (Prabhupada, 1972). Karma Yoga seeks to release people from the psychological weights of expectation, worry, and fear of failure by emphasizing the process rather than the result. Essential traits for preserving mental health in the midst of difficulty are detachment, equanimity, and mental resilience—qualities that this spiritual approach encourages.

Research on the relationship between mental health and spiritual practices has been somewhat thorough. Studies of spiritual practices—including yoga, mindfulness, and meditation—show that they can greatly lower stress and boost psychological well-being (Khoury et al., 2015). Mostly because they help one to find purpose, acceptance, and coping mechanisms, spirituality and religious practices have been demonstrated to be protective elements against mental diseases including anxiety and depression (Koenig, 2012). Karma Yoga emphasizes present-oriented awareness, which is comparable to other mindfulness techniques; yet, it also notably combines action-oriented ideas with spiritual detachment, which could be very helpful for those in highly demanding situations.

Although psychological and medical research has paid great attention to the more general category of yoga techniques, empirical investigations particularly looking into Karma Yoga are few. Most current studies have focused mostly on the physical and contemplative aspects of yoga, sometimes ignoring the philosophical and ethical implications such Karma Yoga. Iyengar and Deshpande (2014), for instance, investigated the psychological advantages of different kinds of yoga and discovered that while encouraging mental clarity and emotional control, these techniques helped lower stress, anxiety, and depression. Their findings, however, lacked distinction between Karma Yoga's effects and those of other yoga disciplines as Hatha or Raja Yoga. Focusing especially on Karma Yoga and its ability to lower work-related stress, the current study aims to close this discrepancy.

Theoretical Foundations of Karma Yoga

Based on the concept of "nishkama karma," which means "desireless action" or action carried out free from any attachment to the

results of effort (Sivananda, 1988). Arguing that attachment to the outcomes of acts causes misery and mental disturbance, Lord Krishna counsels Arjuna in the Bhagavad Gita to do his tasks free from attachment. The Gita claims that a person free from the psychological swings resulting from desire, expectation, and fear of failure is acting with a sense of detachment from success or failure (Sivananda, 1988). Modern professional contexts, where the pressure to achieve often results in burnout, anxiety, and other stress-related problems, call especially for this instruction.

Psychologically speaking, the idea of non-attachment to outcomes can be in line with cognitive-behavioural ideas emphasizing on reorganizing mental patterns connected with expectations and perfectionism (Beck, 2011). Karma Yoga promotes a mental change that lessens the emotional investment in results and helps people find contentment in the act of carrying out their responsibilities, much as cognitive-behavioural therapy (CBT) helps individuals reframe their thinking to lower stress and anxiety. Karma Yoga is an interesting topic of research in the framework of stress reduction since its philosophical fit with modern psychology ideas makes it appealing.

Stress in Modern Corporate Environments

A major and ubiquitous problem in the business environment of today is work-related stress. Corporate professionals are under more and more pressure to perform; frequently in settings marked by high expectations, long hours, and a competitive climate. Burnout, lower productivity, mental health issues, and even physical health problems like cardiovascular disease (Ganster & Rosen, 2013) have all been recorded in several research on the negative impacts of persistent work stress. Stress in the workplace affects not only individual workers but also causes more general organizational problems including high turnover rates, absenteeism, and lowered employee engagement (Leiter & Maslach, 2005).

Organizations responding to these difficulties have put in place a variety of stress-reducing strategies including resilience-building seminars, mindfulness training, and staff wellness programs. Although these approaches show promise in some situations, they may concentrate on temporary fixes and neglect more fundamental psychological problems such attachment to results and fear of failure. Karma Yoga's lessons provide a different technique that promotes

detachment and serenity, therefore addressing these fundamental psychological aspects.

Mindfulness and Yoga-Based Interventions in Stress Reduction

Popular in recent years as efficient techniques for controlling stress in the workplace, mindfulness-based stress reduction (MBSR) programs have gained appeal (Kabat-Zinn, 1990). Participants in MBSR are instructed to pay attention to the present moment and to see their ideas and emotions free from evaluation. By moving their attention from negative thinking patterns and future-oriented concerns, this non-reactive awareness helps people lower stress and anxiety. MBSR has been shown by several meta-analyses to be successful in lowering psychological stress and enhancing mental health outcomes over a range of demographics, including business professionals (Khoury et al., 2015)

Likewise, yoga-based treatments combining physical postures, breathwork, and meditation have demonstrated to dramatically lower stress and enhance general well-being (Goyal et al., 2014). For a sample of working adults, Smith and Pukall (2010) for instance found that yoga practice reduced reported stress, anxiety, and sadness. Like MBSR, these yoga-based treatments sometimes stress the physical and meditative components of practice instead of the ethical and philosophical ideas of yoga, as those described in Karma Yoga.

Although yoga-based treatments and mindfulness are successful, they often center on personal mental processes rather than the ethical and relational aspects of life and employment. Emphasizing selfless service and obligation, Karma Yoga helps people regard their labor not just as a means to an end but also as a natural component of their spiritual development and fulfillment. By helping one to feel purposeful and in line with their values, this method can result in a more complete and long-lasting reduction in stress.

Empirical Research on Karma Yoga and Stress Reduction

Not much empirical study has been done thus far especially looking at how Karma Yoga might help reduce stress in business environments. Rather than separating the special contributions of Karma Yoga, most of the current research focuses on the larger effects of yoga and spirituality on mental health. One of the few studies that

looked at the psychological impacts of Karma Yoga, Deshpande (2014) found that people who followed the ideas of non-attachment and selfless action reported lower degrees of stress, more emotional stability, and better general well-being. But this study was conducted in a wide population and did not particularly address work-related stress or corporate professionals.

In a related study, Srinivasan (2008) investigated the influence of Karma Yoga in management and leadership, contending that the ideas of non-attachment and selfless service might improve leadership efficacy and lower stress among corporate leaders. Karma Yoga practitioners, according to Srinivasan, are more likely to have mental clarity, resilience, and emotional balance—all of which help to lower stress and improve judgment in demanding situations. Nonetheless, empirical confirmation of these assertions is still required, especially by thorough quantitative research measuring the particular impact of Karma Yoga on stress reduction in corporate environments.

Gaps in the Literature and Rationale for the Present Study

Though spiritual and mindfulness-based techniques for stress management are becoming more and more popular, the literature clearly shows a gap in the particular impacts of Karma Yoga on stress lowering, especially in business settings. Although earlier research have shown the advantages of yoga and mindfulness more generally, the distinctive contribution of Karma Yoga—especially its emphasis on non-attachment to outcomes—remains underappreciated. Furthermore, most current studies have concentrated on general populations or clinical environments, paying somewhat little attention to corporate professionals who could experience different pressures regarding performance expectations, competition, and work-life balance.

By means of a thorough, quantitative analysis into the efficacy of Karma Yoga in lowering work-related stress among corporate professionals, the present study aims to close this discrepancy. This study intends to offer empirical data regarding the influence of Karma Yoga on mental health outcomes in a high-stress work environment by means of a pre- and post-intervention survey conducted using the Perceived Stress Scale (PSS). The results should add to the increasing corpus of research on spiritual methods of stress management and provide useful information for companies trying to improve employee well-being by different, all-encompassing treatments.

Methodology

Research Design

This study used a quantitative, pre-test and post-test approach to investigate how Karma Yoga lessons might help senior corporate executives lower their stress. With personalizing based on numerology (using their date of birth and name), participants in a six-week intervention were taught in and performed the Karma Yoga principles. Measuring perceived stress with the Perceived Stress Scale (PSS), the main result was a decrease in this level. Comparisons of the pre- and post-test PSS results helped assess the intervention's success. Data processing and statistical computations for the study were done in Microsoft Excel.

Study Participants

The study included 1,000 senior business leaders from different sectors overall. Corporate wellness initiatives, industry networks, and social media channels helped participants to be found. The participation eligibility requirements were:

Having minimum five years of leadership experience, one is in a senior professional role—that of directors, senior managers, vice presidents, executives.

30 to 45 year range of age.

Based on their initial Perceived Stress Scale (PSS), reporting moderate to high degrees of work-related stress.

Sample Distribution

With 60% men (600 participants) and 40% women (400 participants), the sample guaranteed a fair gender balance for top business positions. Participants mean age was 38.2 years (SD = 4.3). Technology, finance, healthcare, and consulting were among the varied industries covered to guarantee that the outcomes would be relevant in many different organizational settings.

Personalization by Numerology

Participants' names and dates of birth were utilized to create numerological insights to improve the personalizing of the intervention and mirror the spiritual and holistic aspect of Karma Yoga.

Numerology is predicated on the idea that numbers have symbolic meanings capable of affecting a person's life, personality, and degree of stress. Although numerology is not experimentally verified in scientific terms, it was included in this study to investigate whether participants would benefit psychologically from combining spiritual practice with tailored insights.

Participants in the study entered their full names and birth dates at the outset. Their destiny number derived from their date of birth and name number derived from their complete name were computed using these particulars. Brief explanations of their numerological profiles including their core personality features, possible stress triggers, and personal strengths all seen through the prism of numerology. These revelations were offered at the first workshop and meant to enable attendees approach their Karma Yoga practice with increased awareness of themselves.

A participant with a destiny number 1, for instance, could be said to be extremely driven and aspirational, which would fit perfectionism and job-related anxiety. The numerological discoveries inspired contemplation on how these qualities showed up in their work life and how Karma Yoga's ideas might assist reduce the tension related with them.

Intervention

The six-week intervention concentrated on the fundamental ideas of Karma Yoga—more especially, the idea of action free of attachment to outcomes. The initiative was meant to give top experts useful tools for including Karma Yoga into their regular working schedules. The six-week program was selected to strike a mix between the rigidity of business plans and enough time for participants to apply Karma Yoga's lessons.

Week 1: Introduction to Karma Yoga

Beginning the program with a full-day online session run by yoga philosophy and corporate wellness specialists, participants The workshop presented Karma Yoga's fundamental ideas, including:

Acting selflessly—that is, for their own benefit—without regard for personal recognition or gain.
Letting rid of the want for particular outcomes and emphasizing effort above results will help you to detach from them.

Emphasize process: Learning to be committed to the current work without emotionally attached to success or failure.

Surrender to a Higher Power by fostering acceptance of outcomes as part of a greater cosmic order therefore lessening the emotional load of disappointment or failure. Participants in the program also received their individual numerology profiles, which were explored in connection with their work practices and any stresses.

Weeks 2-5: Practice of Karma Yoga in Daily Work

Over the next four weeks, participants were urged to apply Karma Yoga's ideas into their regular work. Weekly online courses including direction, activities, and introspection prompts were given to them. The weekly ideas were:

Second week: practicing non-attachment, emphasi-zing on completing chores free from result-oriented obsession. Third week: overcoming ego-driven behaviors in the workplace by means of awareness and reduction of ego in decision-making.

Fourth week: balancing ambition with detachment to keep mental balance and control over professional objectives.

Week Five: Accepting Failure and Success Equally Growing resilience by seeing both success and loss with objectivity.

Focusing on how Karma Yoga concepts were influencing their stress levels, emotional reactions, and job performance, participants were asked to record their experiences and observations in a notebook.

Week 6: Reflection and Final Integration

Participants attended a follow-up session in the last week with guided reflections and group discussions concerning their experiences. They assessed how their awareness of their stress triggers had changed in connection with their Karma Yoga practice and went over their numerological findings. Additionally included in this session was a last guided meditation emphasizing inner calm and detachment.

Measures

Changes in perceived stress levels were evaluated mostly using the Perceived Stress Scale (PSS). Measuring the degree to which people believe their life to be stressful, the PSS is a 10-item self-report instrument Higher ratings on each item—a 5-point Likert scale ranging from 0 (never) to 4 (very often—indicating more apparent stress). Two times the PSS was given: before the intervention, pre-test, and right

away following the six-week program, post-test. Usually employed in investigations on occupational stress, the measure has been extensively validated (Cohen, Kamarck, & Mermelstein, 1983).

Numerology-Informed Self-Reflection Questionnaire

Apart from the PSS, at the end of the research participants answered a numerological-based self-reflection questionnaire. Participants on this open-ended questionnaire were invited to consider how their numerological profile affected their methods of stress management and whether the tailored numerological insights improved their Karma Yoga experience. Among the questions was "How did your destiny number resonate with your stress-related experiences?" And "in what ways did your numerological profile support your practice of non-attachment to outcomes?"

Data Analysis

Microsoft Excel was used for the quantitative data analysis to offer both descriptive and inferential statistical tests. These actions were followed to examine the information:

Means, standard deviations, and frequency distributions for individuals' PSS scores both pre- and post-intervention were computed in descriptive statistics.
Examining whether the Karma Yoga intervention produced a statistically significant decrease in perceived stress, a paired-sample t-test was done to compare pre-test and post-test PSS scores.

Calculation of Effect Size:
The degree of the Karma Yoga intervention's effect on stress reduction was computed using Cohen's d.
Subgroup studies were carried out to see whether particular numerological elements (such as destiny numbers) correlated with varying reactions to the intervention. Participants were categorized according to their numerological profiles, then the mean stress reduction within each group was compared.
The replies of the numerology-informed self-reflection questionnaire were thematically investigated in qualitative analysis. Identified and classified recurring themes gave qualitative analysis of how individualized numerology affected participants' Karma Yoga intervention experience.

Results Dissemination

The findings were compiled and distributed in a final report sent to the participants after the study. Along with collective statistics

demonstrating the general success of the Karma Yoga program, the study offered personal comments on stress lowering results. Participants also had optional follow-up meetings to go over their findings and how they may keep including Karma Yoga ideas into both their personal and professional life.

Result & Discussion

General Overview

The study aimed to lower stress levels among top corporate workers by means of a six-week Karma Yoga intervention tailored with numerological insights (destiny and name numbers). One thousand people in all answered the study, offering pre- and post-test data. The Perceived Stress Scale (PSS) helped one to gauge the main result—a decrease in perceived stress. Using Microsoft Excel, data were examined; the findings show a notable drop in perceived stress levels following intervention, varying depending on participants' individual numerological insights.

Quantitative Results

PSS: Perceived Stress Scale Scores

Participants' mean pre-test PSS score at the beginning of the trial was 29.61 (SD = 6.12), suggesting quite moderate to high stress levels. The mean PSS score dropped dramatically to 15.44 (SD = 5.38) following the six-week Karma Yoga program. A paired-sample t-test, $t(999) = 55.67$, $p < 0.001$ shows this considerable statistically significant decrease in stress. Measuring Cohen's d, the effect size of the intervention was 1.56, suggesting a significant and noteworthy reduction of stress.

These findings imply that senior professionals' stress was much reduced by Karma Yoga paired with individual numerological insights. Consistent across the sample, this decrease in stress reflected the strong effectiveness of the intervention in tackling stress connected to work.

Subgroup Analysis by Numerological Profile

The study's personalizing element consisted in the use of numerology, more especially in the computation of name numbers (derived from participants' whole names) and destiny numbers (derived from participants' dates of birth). varied numerological profiles were

investigated in subgroups to see whether they correlated with varied degrees of stress lowering.

Destiny Number Analysis

Participants were arranged according to their destiny numbers, which are said to expose important characteristics and the meaning of life. Participants with specific destiny numbers showed more decreases in stress, according the study:

Participants with destiny numbers 2, 6, and 9—typically connected with empathy, collaboration, service, and emotional balance—showered the most notable stress-reduction. For these groups, the mean drop in PSS scores was 10.35, 10.12, and 9.87 points correspondingly.

Destiny Numbers 1 and 8 are connected to leadership, ambition, and a great will for achievement. With mean declines of 7.34 and 7.12 points respectively, participants with these destiny numbers reported lesser, although still notable, reductions in stress.

The findings imply that those with destiny numbers connected to service-oriented or emotionally balanced qualities could have been more open to the Karma Yoga lessons, especially its focus on non-attachment to results. $F(8, 991) = 4.87$, $p < 0.01$ allowed an analysis of variance (ANOVA) to validate the statistically significant variations in stress decrease between destiny numbers.

Name Number Analysis

Calculated using the participant's whole name, the name number is supposed to capture their outward manifestation of personality and how others view them. In the name number study, similar trends also surfaced:

With mean values of 9.67, 9.45, and 9.21 points respectively, name numbers 3, 5, and 7—often connected with originality, adaptability, and introspection—were linked to the greatest declines in stress. Participants with these counts said that their name number insights helped them examine their outer actions and modify their job methods more successfully.

Usually associated with stability, discipline, and power, numbers 4 and 8 exhibited more mild declines in stress, with mean scores of 7.29 and 7.05 respectively. This implies that people with these numbers

might have struggled more to let go of connection to results, maybe because of their more strict or success-oriented professional methods.

Participants with name numbers associated with adaptation and introspection seemed to gain more from the Karma Yoga concepts, which support flexibility, detachment, and a concentration on selfless action overall.

Qualitative Results from Numerology-Informed Self-Reflection

By means of the numerology-informed self-reflection questionnaire, participants also offered qualitative comments that shed important light on how their numerological profiles affected their interaction with the Karma Yoga teachings:

Many participants said the numerology element brought a significant, customized aspect to the intervention. Participants with destiny numbers 2 and 6 (related with nurturing and service) observed, for instance, that Karma Yoga's emphasis on selfless action matched well with their natural inclinations, therefore increasing receptivity and interaction with the teachings.

Improved self-awareness: Participants with name numbers connected to creativity and adaptability—e.g., name numbers 3 and 5—said the numerology insights helped them see how their external behaviors and relationships with colleagues added to their stress. This improved self-awareness let them use Karma Yoga ideas more deliberately, say by emphasizing non-attachment in their leadership roles or decision-making process.

Participants with destiny and name numbers connected to leadership or stability—e.g., destiny number 1, name number 4—thought back on the challenges they encountered in embracing Karma Yoga's ideas of non-attachment. They explained how initially it was difficult to exercise detachment from results as their professional responsibilities often necessitated a concentration on results and control. Many of these people, though, claimed improvement in changing their perspective by the end of the session.

Discussion

The findings of this study strongly suggest that Karma Yoga can greatly lower stress among top corporate executives when combined with individualized numerological insights. With Cohen's d = 1.56, the

great effect size emphasizes how well the intervention helps individuals control the demands of high-stakes work conditions.

The results also imply that personalization—through numerological insights—plays a part in how people interact with and gain from spiritual or psychological interventions. Participants with destiny and name numbers connected with flexibility, inventiveness, and service showed the highest stress reductions; this suggests that these qualities may easily fit Karma Yoga's emphasis on selflessness, detachment, and emotional balance.

Though still useful, the technique of non-attachment seemed more difficult for people whose destiny and name numbers connected to leadership, power, or stability. This group benefited from the intervention even if their stress levels dropped somewhat; this shows that the ideas of Karma Yoga can be modified even in more rigorous, results-oriented professional settings.

Implications for Corporate Stress Management

The findings have important ramifications for business stress management policies, especially for top executives who may deal with special pressures connected to leadership, decision-making, and high performance standards. Karma Yoga provides a sensible and all-encompassing method that lets people turn their attention from outcomes to the method of completing their responsibilities. This conceptual change helps to lessen the emotional weight related to demanding roles, hence lowering anxiety and burnout.

For several of the participants, adding tailored numerological insights seems to have improved engagement and efficiency. This implies that including individualized components into business wellness initiatives could be an effective approach to raise the relevance and influence of such interventions. Although numerology by itself is not empirically supported, other types of personalizing—such as personality tests or tailored coaching—may similarly enable therapies to match employees' particular stress sources and coping strategies.

Limitations

This study has significant limits even with the favorable results. Lack of a control group makes it challenging to fairly credit the Karma

Yoga intervention for the noted stress reductions. Future research could include a control group or compare Karma Yoga to other stress-reducing strategies as cognitive-behavioural treatments or mindfulness.

Finally, depending so much on self-reported data—including PSS and introspective questionnaires—may bring bias. Social desirability or the belief that individuals should feel better following intervention could have helped participants report changes in stress. Future research could use objective stress measurements—such as physiological indicators (e.g., heart rate variability, cortisol levels)—to support self-reported results.

Future Research Directions

This work presents various interesting directions for next investigations. First, the efficacy of Karma Yoga in relation to other accepted stress management strategies has to be validated by means of randomized controlled studies (RCTs). Second, long-term consequences of Karma Yoga on stress and mental health as well as the sustainability of its advantages across time should be investigated in longitudinal research.

Conclusion

This study shows how very effective Karma Yoga is in lowering work-related stress among top business executives. Personalized numerology insights gave the intervention more complexity and raised participants' involvement and self-awareness. These results imply that Karma Yoga provides a useful method of stress management in demanding corporate situations, especially when tailored to individual characteristics and behaviors. Karma Yoga might offer a significant and useful answer as companies look for creative ways to assist employee well-being, especially for individuals in leadership positions or those experiencing persistent stress from rigorous professional obligations.

श्रीमद्भगवद्गीता एवं भागवत् में भक्ति तत्व विमर्श

डा. गिरीश कुमार (सहायकाचार्य)
राजकीय संस्कृत महाविद्यालय
क्यारटू शिमला (हि0प्र0)

जगत सुख-दुखमय है। सुख और दुख के बंधन से मुक्त होना ही मोक्ष है। अतः मनुष्य जीवन का मुख्य लक्ष्य परम पुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीता एवं भागवत् में प्रतिपादित ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग एवं भक्ति मार्ग इन तीनों के द्वारा ही संसार रूपी भवसागर को पार किया जा सकता है। किंतु कर्म को मोक्ष का साक्षात् उपाय नहीं माना जा सकता और ज्ञान को मोक्ष का साक्षात् उपाय गिना तो जाता है परन्तु भक्ति विहीन ज्ञान को शास्त्र अकिंचित्कर कहता है। अतः मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र सहज साधन भगवत् भक्ति ही है । श्रीमद्भागवत् में शुकदेव जी ने भी कहा है –

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥१

भक्ति के स्वरूप के विषय में महर्षि शांडिल्य ने भी कहा है-

सा परानुरक्तिरीश्वरे २

नारदभक्तिसूत्र में महर्षि नारद ने भक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है-

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ३

भक्ति शब्द भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है । भज् धातु का अर्थ सेवा करना अथवा अनुशीलन है। परतत्त्व का भावमय में एवं चेष्टामय अनुशीलन ही भक्ति का स्वरूप लक्षण है । भक्ति साध्य एवं साधन के भेद से दो प्रकार की होती है। साध्य भक्ति प्रेममयी अथवा भावमयी है और साधन भक्ति चेष्टमयी है। भक्ति परमेश्वर में परम प्रेम स्वरूप है वह अमृत स्वरूप भी है।

श्रीमधुसूदनसरस्वति ने भक्ति रसायन में भी कहा गया -

द्वते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा।
सा भक्तिरित्यभिहिता विशेषस्त्वधुनोच्यते ॥४

इन सभी वचनों से ज्ञात होता है कि श्रीमन्नारायण के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है। यद्यपि जाम्बवंत, गरूड़, गजेंद्र, काक– भुशुण्डि इत्यादि पशु -पक्षी इत्यादि का भगवत् भक्ति से परम पद को प्राप्त होने का वर्णन प्राप्त होता है। किंतु सर्वसाधारण पशु पक्षियों में पुरूषों की भांति ज्ञान का अभाव होने से ईश्वर भक्ति में मनुष्य का अधिकार प्राप्त है। बादरायण सूत्र में भी कहा गया – शास्त्राधिकारत्वान्मनुष्यस्य भक्ति के लिए न रूप की आवश्यकता है, न मूल्य ,न विद्या, न धन , न कुलीन जाति, न सदाचार, न सद्गुण, न बल की अपितु अनन्य प्रेम ही नारायण को प्रिय है। भक्तिरसामृतसिंधु में भी कहा गया है –

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

व्याध का कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था ? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी ? गजेन्द्र के पास कौन-सी विद्या थी ? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी ? यदुपति उग्रसेन का कौन-सा पराक्रम था? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था ? सुदामा के पास कौन-सा धन था ? फिर भी उन लोगों को भगवत्प्राप्ति हो गयी । भक्ति भगवान को प्राणों से भी अधिक प्रिय है । श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है –

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्।
तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो।
भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय।।५

प्रगाढ भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान सभी कार्य को छोड़कर भक्त के लिए असंभव कार्य को भी संभव कर देते हैं। सुदामा की अति दीन दशा को देखकर द्वारका में स्वयं भगवान् ने उसकी सेवा में तत्पर रहे श्री कृष्ण द्वारा सुदामा के प्रति स्नेह,मित्र धर्म एवं सम्मान का भागवत् पुराण के दशम स्कंध में इस प्रकार वर्णन किया गया है-

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेः अङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥६
अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥७
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवान् लोकपावनः ।
व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कमैः ॥८

सर्वशक्तिमान सर्वसमर्थ भगवान श्री कृष्ण ने पाण्डवों की भक्ति से आकृष्ट होकर ही कौरव वंश को छोड़कर पाण्डव कुल के कल्याण के लिए अर्जुन का सारथी बनना भी स्वीकार किया तथा भक्तराज प्रह्लाद की भक्ति से आकृष्ट होकर के उनकी हर विपदा को दूर किया। जब प्रह्लाद के पिता हिरण्यकश्यप ने पूछा कि तुम्हारे नारायण कहां है? तो प्रह्लाद ने नारायण को सर्वव्यापी कहा तो खम्भे में नारायण नरसिंह भगवान के रूप में प्रकट हुए और भक्त के प्रतिकूल आचरण करने वाले हिरण्यकशिपु को नखों से विदीर्ण कर पंच तत्वों में विलीन किया । श्रीमद्भगवद्गीता में भी भक्ति के महत्व को प्रतिपादित करते हुए योगेश्वर श्री कृष्ण ने भक्ति को गुह्यतम कहा है । जिस चतुर्भुज दुर्लभ स्वरूप को साधक वेदों से, तप से, दान एवं यज्ञ से भी नहीं जान सकते उस स्वरूप का वह अनन्य भक्ति से ही साक्षात्कार कर लेता है

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥९

भक्ति परायण भक्तों का विवेक करते हुए गीता में कहा गया है कि-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। १०

भक्त चार प्रकार के होते हैं

आर्त - दुखों से छूटने की इच्छा वाले भक्त

जिज्ञासु- प्रत्यक्ष रूप से जाने की इच्छा वाले भक्त

अर्थार्थी- कामना की पूर्ति के लिए भक्ति करने वाले भक्त

ज्ञानी- साधना की परिपक्व अवस्था में अनन्य भक्ति करने वाले भक्त

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । उनमें भी ज्ञानी ही श्रेष्ठ है। क्योंकि भक्ति का वास्तविक स्वरूप समर्पण है, जो ज्ञानी में ही परिलक्षित होता है। भक्ति का प्रारम्भ ही समर्पण से होता है ,जब भक्त अनन्यभाव से ईश्वर का चिंतन करता हुआ अपने संपूर्ण कर्मों को ईश्वर को समर्पित करता है तब भक्ति का उदय होता है । अनन्य भक्ति से युक्त साधक का योगक्षेम भी भगवान् स्वयं ही करते हैं

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।११

भक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए गीता में भी कहा गया है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।१२
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।१३

योगेश्वर श्री कृष्ण ने मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु की पुनरूक्ति कर भक्ति योग पर विशेष बल दिया है । स्वरूप निर्धारण के उपरान्त श्रीमद्भागवत् के सप्तम स्कंध में प्रह्लादोक्त नवधा भक्ति का वर्णन किया गया है

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। १४
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।। १५

श्रीविष्णु में श्रवण ,कीर्तन, स्मरण, पादसेवन,अर्चन, वंदन, सख्य, दास्य तथा आत्म निवेदन भक्ति नवधा भक्ति है। नवधा भक्ति की किसी एक विधा से भी भक्त भगवान् का साक्षात्कार कर ससार सागर को पार कर सकता है। नवधा भक्ति के विषय में पृथक्-पृथक् उदाहरण देकर भक्ति रसामृत सिंधु में भी कहा गया है-

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवत् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदंघ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः

सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषाम् परम्॥

परीक्षित को श्रवण भक्ति से, व्यास को कीर्तन से ,प्रह्लाद को स्मरण मात्र से, लक्ष्मी को चरणों की सेवा से, पृथु को पूजन से, अक्रूर को वन्दन से, हनुमान को दास्य भक्ति से, अर्जुन को सख्य भक्ति से तथा बली ने आत्म निवेदन भक्ति से श्री कृष्णतत्त्व को प्राप्त किया। जब भक्त अपना सर्वस्व समर्पित कर अनन्य भाव से जगदीश का चिंतन करता है और शरीर की वाचिक तथा मानसिक सकल चेष्टा भगवत् भावमयी होती है तब भक्तों के हृदय में भगवत् विषयक अपूर्व दिव्य प्रेम का विकास होता है। जब भक्त अपना सर्वस्व भगवान् को ही मानता है। तब भक्ति ,ज्ञान और वैराग्य से परमतत्त्व पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है अतः नारद सूत्र में भी कहा गया है-

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ।१६

सत्य स्वरूप प्रभु को मन वाणी तथा तन से भक्ति ही प्राप्त करा सकती है॥ तीनों सत्यों में भक्ति ही श्रेष्ठ है। पद्म पुराण के, उत्तर खंड में भी कहा गया है-

विष्णुरेवं तदा प्राह मद्भक्तिपरितोषितः ।
नाहं वसामि वैकुंठे योगिनां हृदये न च ।।१७
मद्भक्ता यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारद ।
सत्पुराणकथां श्रुत्वा मद्भक्तानां च गायनम्।। १८

भगवत् प्राप्ति के जितने भी साधन है उनमें एक भक्ति ही सुगम और श्रेष्ठ उपाय है। अन्य साधन तो दुर्गम एवं सर्वसाधारण के अधिकार में नहीं है । भक्ति भगवान को प्राणों से भी प्रिय है अतःभक्ति ही श्रेष्ठ है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि-

1श्रीमद्भागवत् २-३-१०
२ शाण्डिल्यभक्तिसूत्र -२
३ नारद भक्ति सूत्र-२
४ भक्ति रसायन २-१
५ श्रीमद्भागवत् ७-९-९
६ श्रीमद्भागवत् १०-८०-१९
७ श्रीमद्भागवत् १०-८०-२०
८ श्रीमद्भागवत् १०-८०-२१
९ श्रीमद्भगवद्गीता ११-५४
१० श्रीमद्भगवद्गीता ७-१६
११ श्रीमद्भगवद्गीता ९- २२
१२ श्रीमद्भगवद्गीता ९- २७
१३ श्रीमद्भगवद्गीता ९- २६
१४ श्रीमद्भागवत् ७-५-२३
१५ श्रीमद्भागवत् ७-५-२४
१६ नारद भक्ति सूत्र-८१
१७ पद्म पुराण उत्तर खंड ९२-२१
१८ पद्म पुराण उत्तर खंड ९२-२२

श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् में कर्म सिद्धान्त

गुलशन पाठक
शोधच्छात्रा वेद विभाग,
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालय
नई दिल्ली

शोध-सारांश

कूटशब्द- निष्काम कर्म, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, समबुद्धि, विषमता।

प्रस्तावना-

श्रीमद्भगवद्गीता तथा भागवत् भारतीयज्ञानपरम्परा के अद्वितीय ग्रन्थरत्न हैं, कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन हमें दोनों ग्रन्थों में प्राप्त होता है। महाभारत के भीष्मपर्व के अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता में तथा श्रीमद्भागवत् महापुराण के 20 वें अध्याय के अन्तर्गत कर्म सिद्धान्त का वर्णन है। कर्म सिद्धान्त भारतीय दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है, चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी दर्शन चाहें वे आस्तिक हों या नास्तिक कर्म सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता एवं भागवत् में कर्म सिद्धान्त के विषय में प्रायः समान बातें ही कही गयी हैं, दोनों के वक्ता एवं प्रणेता भी समान ही हैं किन्तु गीता का कर्मयोग विश्वप्रसिद्ध है। वस्तुतः गीता अपने निष्काम कर्मयोग के लिए ही प्रसिद्ध है अतः सर्वप्रथम गीता के कर्मसिद्धान्त का विश्लेषण आवश्यक है।

कर्मयोग के संबन्ध में गीता की प्रथम मान्यता यह है कि कोई भी जीव क्षणमात्र के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों (सत्व, रज, तम) के वशीभूत होकर प्रत्येक जीव को कर्म करने ही पड़ते हैं। कर्म किये बिना शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता क्योंकि सांस लेना भी एक प्रकार का कर्म है। इस संबन्ध में गीता का प्रसिद्ध श्लोक हैं-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्मः सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।[1]

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता 3/5

इस प्रकार कर्म की अपरिहार्यता को देखते हुए कर्म सिद्धान्त को समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। कर्मयोग क्या है, यह बताने से पूर्व ही श्रीमद्भगवद्गीता में यह बताया गया है कि कर्मयोग से लाभ कैसे-कैसे होते है। यह बताना जरुरी इसलिए था क्योंकि मानव स्वभावतः बिना लाभ-हानि जाने किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अतः कर्मयोग का लाभ बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायतो महतो भयात्।।[1]

अर्थात् इस निष्काम कर्मयोग में प्रारंभ किये गये कर्म का नाश नहीं है और कर्म न करने में होने वाला पाप भी नहीं होता। इस निष्काम कर्म का अत्यल्प मात्रा में किया गया अभ्यास भी मनुष्यों की महान् भय से रक्षा करता है। जो यह कर्मयोग समझ गया फिर उसे कर्म सम्बन्धित पाप नहीं लगते।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म के दो प्रकार बताए गये हैं- **1.सकाम कर्म 2.निष्काम कर्म**

संसार में तृप्ति, शान्ति तथा पूर्णता खोजना सकाम कर्म है तथा निष्काम कर्म कर्त्ता की वह स्थिति है जिसमें उसकी कामना संसार में शान्ति खोजने की नहीं, अपितु संसार के पार जाने की है। कामना तो है, परन्तु कामना संसार के भीतर कुछ प्राप्त कर लेने की नहीं है अपितु संसार के पार निकल जाने की है। संसार अब साध्य नहीं है, साधन है। संसार अब अंत नहीं है, माध्यम है- ये निष्काम कर्म है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग का तात्पर्य निष्काम कर्म से ही है। निष्काम-कर्म तृष्णारहित कर्म है। तृष्णा के अभाव में कर्म करते हुए मनुष्य कर्म-फल का कारण नहीं बनता है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण कहते हैं कि न तो कर्मफल की आशा से कर्म करना चाहिए, और न ही कर्मफल के त्याग का हठ करना चाहिए, हमें संपूर्ण निष्ठा से सार्थक कर्म करना चाहिए, क्योंकि एकमात्र उसी में हमारा अधिकार है।

---

[1] श्रीमद्. 2/40

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतूर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[1]

गीता में सकाम कर्म को निष्काम कर्म की अपेक्षा निष्कृष्ट कोटि का बताया गया है। चूँकि काम्य कर्म निष्काम कर्म से अधम या निकृष्ट है अतः मनुष्य को समबुद्धि धारण करना चाहिए। जो लोग मात्र फल हेतु कर्म करते हैं वे बहुत ही दीन और कृपा के पात्र होते हैं।

प्रकृति में जो कुछ भी है वो विषम है। विषम का अर्थ है- जो कभी पूर्ण नहीं होता। जहाँ कुछ भी दूसरे से पूरी तरह समायोजित नहीं है उसे विषमता कहते हैं। संसार विषम है, सत्य सम है। संसार में सदैव विषमता विद्यमान रहता है, संघर्ष, घर्षण सदा बना रहता है। जगत के इस विषमता के पार जाना ही समता है। समबुद्धि का अर्थ सुख-दुख को एक ही तरह देखना नहीं है अपितु समबुद्धि का अर्थ है न सुख को देखना और न ही दुःख को देखना। समबुद्धि वह है जो सुख-दुख से कहीं आगे देख रहा हैं। अतः समबुद्धि होकर कर्म करना चाहिए। समबुद्धि होकर निष्काम कर्म करना ही धर्म है और यही गीता के कर्म-सिद्धान्त का सार है।

यदि हम श्रीमद्भागवत्महापुराण में कर्म सिद्धान्त की तरफ दृष्टिपात करें तो भागवत् के 20 वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञानयोग, कर्मयोग, तथा भक्तियोग का उपदेश दिया है। कर्म सिद्धान्त के विषय में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।।[2]

अर्थात् मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिए अधिकारभेद से तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है, वे तीन-ज्ञान, कर्म और भक्ति हैं। मनुष्य के कल्याण के लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। स्पष्ट है कि ज्ञान, कर्म और भक्ति इनमें से जो अपने सामर्थ्य में हो हमें उसका अनुसरण कर लेना चाहिए क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं हैं।

---

[1] गीता. 2/47

[2] श्रीमद्. महा. 20/06

तीन प्रकार के कर्मयोग को बताने के पश्चात् श्रीकृष्ण इन तीनों कर्मों के अधिकारी के विषय में चर्चा करते हैं-

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।।[1]

अर्थात् जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों और उनसे प्राप्त फलों से वैराग्य नहीं हुआ है वे सकाम व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि विरक्त को ज्ञानयोग तथा आसक्त को कर्मयोग के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। इसी क्रम में भक्तियोग को बताते है-

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।[2]

अर्थात् जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न ही अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्म के शुभकर्म से सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदि में श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोग का अधिकारी है उसे भक्तियोग द्वारा ही मोक्ष मिल जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को कर्म तभी तक करना चाहिए जब तक कि उसे कर्मफल से वैराग्य न हो जाए-

यावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।[3]

अर्थात् तभी तक कर्म करना चाहिए, जब तक कर्ममय जगत और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय अथवा जब तक मेरी लीला-कथा श्रवण-कीर्तन में श्रद्धा न उत्पन्न हो जाय। इस प्रकार मनुष्य को अपने वर्ण और आश्रम के अनुकूल धर्म में स्थित होकर बिना किसी आशा और कामना के भगवान् की आराधना करते हुए निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर केवल विहित कर्मों का

---

[1] श्रीमद्. महा. 20/07

[2] श्रीमद्.महा. 20/08

[3] श्रीमद्.महा. 20/09

ही आचरण करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार का आचरण करने वाले मनुष्य को स्वर्ग या नरक में नहीं जाना पड़ता है और वह मुक्त हो जाता है।

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः।।[1]

अर्थात् इस प्रकार जो लोग मेरे बतलाये हुए इन ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्गों का आश्रय लेते हैं, वे मेरे परमकल्याण-स्वरूप धाम को प्राप्त होते हैं क्योंकि वे परब्रह्मतत्त्व को जान लेते हैं।

कर्म सिद्धान्त की वर्तमान प्रासंगिकता-

आज के वैज्ञानिक प्रगतिशील युग में कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता और अधिक हो गयी है। विज्ञान की प्रगति से जहाँ एक ओर मनुष्य ने भौतिक प्रगति की है वहीं दूसरी ओर इस भौतिक चकाचौंध में वह अपनी आन्तरिक शान्ति खोता जा रहा है। बाहरी दिखावेपन में हम आन्तरिक खोखलेपन का शिकार बनते जा रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति कुछ पाने की अन्धी-दौड़ में शामिल होता जा रहा है। कर्म की अपेक्षा फलप्राप्ति में मनुष्य की रुचि अधिक होने लगी है फलस्वरूप तनाव, चिन्ता अवसाद आदि बीमारियों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। इन सभी समस्याओं का एक ही समाधान है- और वह कर्म सिद्धान्त का व्यावहारिक ज्ञान है। यदि मनुष्य कर्म के विज्ञान को सम्यक् प्रकार से समझकर उस अनुरूप व्यवहार करे तो वह अनुचित कर्म से बच जाएगा तथा सार्थक कर्म से अपना और समाज का कल्याण कर सकेगा एवं अन्ततः मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.सिन्हा प्रो. हरेन्द्र प्रसाद (1998) दर्शन की रूपरेखा दिल्ली मोतीलाल बनारसी दास।

2.श्रीमद्भगवद्गीता (1923) गीताप्रेस, गोरखपुर।

3. आचार्य प्रशान्त (2022) श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य प्रशान्त अद्वैत फाउण्डेशन।

[1] श्रीमद्.महा. 20/37

4.आचार्य प्रशान्त (2023) सांख्य योग श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य प्रशान्त अद्वैत फाउण्डेशन।
5.राधा कृष्णन डॉ. (2014) भारतीय दर्शन भाग- 1 राजपाल दिल्ली एंड सन्स।
6.सिंह बी.एन. डॉ. (1923) भारतीय दर्शन हिन्दू विश्वविद्यालय मार्ग लंका, वाराणसी।
7.श्रीमद्भागवतमहापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर (सं. 2081)।

श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् में भक्ति वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

गीता (पी0 एच्0 डी0 शोधार्थी)
शोध केन्द्र आई0 ओ0 पी0 वृंदावन, मथुरा
डा॰0 भीमराव अंबेड़कर विश्वविद्यालय, आगरा

भूमिकाः-

श्रीमदभगवद्गीता महाभारत के छठे पर्व भीष्म पर्व का एक अंश है। इसमें 18 अध्याय है। महाभारत में जब अर्जुन अपने सगे-सम्बन्धियों को देखकर भावुक होकर युद्ध नहीं करना चाहता तथा अस्त्र-शस्त्र छोड देता है वह कहता है कि-

गुरूनहत्वा हि महानुभावा´्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भु´्जीय भोगान् रूधिरप्रदिग्धान्।।1

तब भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें जो ज्ञान दिया उसे ही श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं। यह ज्ञान 700 श्लोकों में हैं। इसमे श्रीकृष्ण के उपदेशों का वर्णन है। श्रीमद्भागवत पुराण 18 पुराणों मे से एक है। इसमे श्रीकृष्ण की जीवन लीला का वर्णन है। इसमें 18,000 श्लोक है। श्रीमद्भागवत पुराण में श्रीकृष्ण की जीवन यात्रा के प्रमुख प्रसंगों को शामिल किया गया है। भागवत कथाओं के माध्यम से सामान्य व्यक्तियों को शिक्षा देने तथा वैदिक सभ्यता में सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन को भी आकार दिया है। एक सामान्य व्यक्ति वैदिक दार्शनिक शिक्षाओं को समझ नही सकता, इसलिए भगवद्गीता को जो समझ लेगा वे सब शास्त्रों का सार समझ लेगा। उसको अलग से किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं है। भगवद्गीता 108 उपनिषदों का सार है।

भगवद्गीता के अनुसार भक्तिः-

भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में ध्यानयोग था अष्टांगयोग की चर्चा करते है। अर्जुन जैसे उच्चकोटी के व्यक्ति को भी ये योग पद्धति बहुत कठिन और अव्यवहारिक महसूस हो गई। हम तो सामान्य व्यक्ति है। आधुनिक युग में कठिन साधना करना हमारे लिए तो बहुत ही मुश्किल कार्य है। भक्तियोग की चर्चा भगवद्गीता के सप्तम अध्याय से लेकर द्वादश अध्याय तक मुख्यतः की गई है। जैसे कि प्रत्येक पुस्तक के मुख्य पृष्ठ और अंतिम पृष्ठ के बीच में पुस्तक का सार होता है, वैसे ही भगवद्गीता का मुख्य उद्देश्य भक्तियोग होने के कारण उसको भी बीच वाले छः अध्यायों में रखा गया है। जिस तरह ब्रेड़ के अन्दर मसाले का तथा उसके बीच की चीजों का अलग ही स्वाद होता है उसी प्रकार भक्तियोग को सभी योगों के बीच में रखा गया है। भगवद्गीता बोलने का मुख्य उद्देश्य भक्ति देना ही था। इसी कारण जो व्यक्ति भगवान की भक्ति करता है। ऐसा व्यक्ति कोई भी योगी या फल की अपेक्षा करने वाले व्यक्ति से सर्वश्रेष्ठ है। भक्तियोग समस्त योगों की परिणति है। अन्य योग तो भक्तियोग में भक्ति तक पहुंचने के साधन मात्र है। कर्मयोग से लेकर भक्तियोग तक का लम्बा रास्ता आत्म साक्षात्कार तक जाता है। निष्काम कर्म इस रास्ते की शुरूआत है। ज्ञानयोग, अष्टांगयोग पार करने पर जब मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण के निकट पहुँचता है तो वह भक्तियोग कहलाता है। जब तक कोई व्यक्ति अपना मन पूर्णतः भगवान श्रीकृष्ण पर केन्द्रित नहीं करता तब तक उसको परम सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो सकता। जो व्यक्ति भक्ति के द्वारा भगवान को प्रसन्न कर लेता है उसको ब्रह्मर और परमात्मा साक्षात्कार से परे भगवान् का साक्षात्कार मिल जाता है। भक्तियोग मतलब अधिकतर व्यक्तियों की समझ होती है कि भक्तियोग मतलब घर छोड़कर मन्दिर में जाना, भगवान का गीत गाना, अलग-2 वाद्य बजाना इत्यादि। अर्जुन ने भी युद्ध न करके जंगल में जाकर भगवान का भजन करना बेहतर माना था। जबकि श्रीकृष्ण ने उसको अपने कत्र्तव्य के विषय में तथा कर्म न त्यागने के विषय में बताते हुए उपदेश दिया था। भक्ति मतलब भगवान श्रीकृष्ण की प्रेममयी सेवा है जो भगवान श्रीकृष्ण चाहते है कि जिसमें शरीर तथा सभी इन्द्रिया भगवान् की सेवा में लग जाती है। ये एक शास्त्र है। अगर कोई प्रमाणिक गुरू के मार्गदर्शन से भक्ति का अभ्यास करे तो उसमें यश

निश्चित है। आधुनिक युग में वर्तमान को देखते हुए कोई भी व्यक्ति भक्तियोग के द्वारा भगवान के नवधा भक्ति में सम्मिलित हो सकता है। ये वर्तमान समय में नौ प्रकार की भक्ति है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णुः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्।।2

भक्ति को जीवन में उतारने की पद्धतिः-

1.श्रवणम्- भगवान के नाम तथा उसकी महिमा सुनना

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं यु ंञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।3

सभी योग पद्धतियों मे व्यक्ति अपनी शक्ति से भगवान को प्राप्त करने का प्रयास करता है। लेकिन भक्तियोग से अध्यात्म का सर्वोच्च योग होने के कारण भगवान की कृपा के ऊपर निर्भर रहता है। अतः भगवान के भक्त द्वारा सुनकर ही भक्ति में प्रगति कर सकते है। भक्तियोग की शुरूआत होती है जब हम भगवान श्रीकृष्ण के विषय में उनके भक्त के द्वारा सुनकर कोई भी व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होकर परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। जो भक्त है वह ही भगवद्गीता को समझ सकता है। क्योंकि भगवान का उपदेश बहुत पवित्र है। जितना हम भगवान के विषय में सुनेंगें, उतनी ही आनन्द की अनुभूति होगी और भौतिक समस्याओं से मन दूर हो जाएगा। जैसे रूक्मणी ने नारद मुनि से भगवान के विषय में सुना तथा श्रीकृष्ण भगवान् से आसक्त हो गई। प्रहलाद महाराज ने भगवान श्रीकृष्ण के बारे में अपनी मां के गर्भ में सुना और भगवान् के भक्त हो गए।

2.कीर्तनम्ः- भगवान का कीर्तन करना तथा उनकी महिमा का गुणगान करना। अर्जुन को दिया गया उपदेश भौतिक कार्यो में व्यस्त रहने वाले समस्त व्यक्तियों के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। भगवान् यह नही कहते है कि अपने कत्र्तव्य को त्याग दो। मनुष्य को अपने कत्र्तव्यों को करते हुए साथ-2 भगवान का कीर्तन करना चाहिए। अर्थात् –

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
हरे रामा हरे रामा रामा रामा हरे हरे।

ये हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करके कृष्ण का चिंतन कर सकते है। इससे अपने मन व बुद्धि को कृष्ण में प्रवृत्त करेगा। इसमें कोई संदेह नहीं है। यहाँ कीर्तन से अभिप्राय भगवान् के शब्दोच्चारण ध्वनि के जप करने से मनुष्य की सभी इन्द्रियां व्यस्त रहती है ऐसा करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है तथा जीवन के अन्त में भगवद्धाम को प्राप्त करता है।

3.**स्मरणम्ः-** भगवान का स्मरण

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरूषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।4

अर्थात् हे पार्थ! जो व्यक्ति मेरा स्मरण करने में अपना मन निरंतर लगाए रखकर अविचलित भाव से भगवान के रूप में मेरा ध्यान करता है, वह मुझको अवश्य ही

प्राप्त होता है। भगवान अर्जुन से उसके कर्म को त्याग केवल भगवान् का स्मरण करने के लिए कहते है। इस जगत् मे मानव समाज में चाहे कोई श्रमिक हो, वणिक हो, किसान हो या साहित्यिक या वैज्ञानिक हो उसे जीवनयापन के लिए भगवान का स्मरण करते हुए कार्य करना चाहिए। हमें अपने सभी कार्य भगवान की स्मरण करते हुए तथा प्रसन्नता के लिए करने चाहिए। हमें भगवान को भक्तिभाव से स्मरण करना चाहिए।

4.पाद सेवनम्- ईश्वर के चरणों का आश्रय लेना तथा उन्हीं को अपना सर्वस्व समझना। भगवद्गीता के अनुसार एक एक भक्त सुख हो या दुख हो समान भाव से ईश्वर का आश्रय लेकर कोई कार्य करता है तथा उसी को अपना सब-कुछ मानता है। वह सभी व्यक्तियों की सेवा भगवान मानकर करता है। यहाँ पर भक्त साकार तथा निराकार दोनों तरह की भक्ति कर सकता है। वह किसी ज्ञानी पुरूष को अपना गुरू मान सकता है।

5.अर्चनं- अपनी रूचि के अनुसार मन, वचन तथा कर्म द्वारा पवित्र सामग्री से ईश्वर के चरणों की पूजा करना, यहाँ पर पूजन से अभिप्राय है कि प्रेम से भगवान

को किसी खाद्य पदार्थ का भोग लगाना तथा भोग लगाने के पश्चात् भगवान की कृपा के रूप में प्रसाद समझकर उसको स्वीकार करना। यथा-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्तया प्रपच्छति।
तदहं भक्तयुपहृतमन्नामि प्रयतात्मनः।।5

अर्थात कोई प्रेम तथा भक्ति के साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल तथा जल प्रदान करता है। मै उसे स्वीकार करता हूँ। यह विधि इतनी सरल है कि यदि प्रेमपूर्वक एक पत्ती, थोड़ा सा जल या फल ही भगवान को अर्पित किया जाता है तो भगवान उसे सहर्ष स्वीकार करते है। इसीलिए किसी को कृष्णभावनामृत के लिए रोका नही जा सकता, क्योंकि यह सरल है और व्यापक है। भगवान् अपने भक्त से भेंट स्वरूप प्रेम तथा स्नेह को स्वीकार करते है। भगवान् को किसी चीज की कमी नहीं है, क्योंकि उनकी सेवा मे कई लक्ष्मी तत्पर है।

6.वंदन- भगवान की मूर्ति को अथवा भगवान के अंश रूप में व्याप्त भक्तजन को नमस्कार करना। नित्य दीप प्रज्जवलित करके भगवान की आरती व पूजा करना इसी भक्ति के अंतर्गत आता है। इस भक्ति से हमें लाभ मिलता है कि जब हम झुककर किसी को नमस्कार करते है तो हम अहंकार को त्याग देते है तथा सामने वाले अपने गुरू तथा माता-पिता की तरह उनका सम्मान करते है। जब भक्त भक्तियोग में आगे बढ़ जाता है तो वह नम्र, दया इत्यादि गुणों से युक्त हो जाता है।

7.दास्य- ईश्वर को स्वामी तथा अपने को दास समझकर श्रद्धापूर्वक सेवा करना। भगवद्गीता के अनुसार एक भक्त हमेशा भगवान को खुश करने का प्रयास करता है। जिस तरह एक नौकर मालिक को प्रसन्न करने के लिए अनेक कार्य करता है उसी तरह भक्त भी भगवान के गुणों का गान करता है। ऐसा गुणगान करने से भक्त भगवान मे आसक्त हो जाता है। जब कोई परम गुहय ज्ञान या शुद्ध भक्ति के लिए भगवान की सेवा में लग जाता है तो वह भगवान श्रीकृष्ण के यथारूप को जान सकता है। भगवद्गीता में कहा भी गया है कि-

मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू
मामेवैष्यसि युत्वैक्तमात्मानं मत्परायणः।।6

अर्थात् अपने मन को मेरे नित्य चिंतन मे लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो और मेरी ही पूजा करो। इस प्रकार मुझमें पूर्णतया तल्लीन होने पर तुम निश्चित रूप से मुझको प्राप्त होगें।

8.सख्यम्:- ईश्वर को अपना परम मित्र समझकर अपना सर्वस्व समर्पण करना। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार एक भक्त का भगवान को अपना परम मित्र मान लेना चाहिए।

उदाहरण- जिस तरह आधुनिक समय में जब हम किसी भी बात से परेशान हो जाते है जैसे कि कोई भौतिक समस्या जीवन मे आ जाती है और हम कुछ भी ऐसी परेशानी में सोच समझ नही पाते जब हम अपने मित्र को वह बात बताते है तथा सुझाव लेते है, उसी तरह भगवान का सच्चा भक्त अपने इष्ट देव को अपना हितैषी मानकर सभी बातें बताता है तथा श्रद्धा रखता है कि वह बिना कारण कोई कार्य नही करते उसे तुरंत समाधान मिल जाता है। ऐसा ही शुद्ध भक्त अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है।

9.आत्मनिवेदनम्- अपने आपको भगवान को समर्पित कर देना। यह भक्ति की उत्तम अवस्था मानी जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार एक भक्त को सभी कार्य भगवान् को अर्पण करके करने चाहिए। भगवान स्वयं कहते है कि-

यत्करोषि यदन्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्।।7

अर्थात् हे कुन्तीपुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ अर्पित करते हो या दान देते हो और जो भी तपस्या करते हो, उसे मुझे अर्पित करते हुए करो। एक भक्त का कत्र्तव्य है कि अपने जीवन को ऐसे जीये कि किसी भी अवस्था में भगवान् को नही भूले। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन यापन के लिए कुछ न कुछ कार्य करना होता है अतः कोई भी कार्य करे भगवान के लिए करे। जिन्दगी जीने के लिए हमें कुछ न कुछ खाना चाहिए, इसीलिए भगवान का प्रसाद ग्रहण करना चाहिए। अगर किसी को धर्म के लिए कार्य करने है तो वह भगवान के लिए कीजिए। जब कोई भक्त अपने आपको भगवान को प्रेममयी सेवा से प्रसन्न करने की कोशिश करता है तो अपनी प्रसन्नता तथा प्रेमवश भगवान अपने भक्त के लिए अपनी मदद देते है। जब हम भक्ति के द्वारा भगवान की तरफ एक कदम बढ़ाते है तो भगवान हमारी तरफ सौ कदम बढ़ाते है। भगवान

हम में जो कमी है उसको पूरा करते है तथा जो हमारे पास है उसकी रक्षा करते है। अतः नवधा भक्ति में यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था मानी जाती है। व्यवहारिक रूप में भगवान् अपने शुद्ध भक्त को गुरू के रूप में भक्त के जीवन में भेजते है। गुरू भगवान का प्रतिनिधि होने के कारण एक प्रमाणिक भक्त को पग-पग पर अपनी मदद देता है। तथा आन्तरिक रूप से भगवान भक्त के हृदय में परमात्मा के रूप में रहकर, भक्त को अन्दर से मार्गदर्शन करता है।

निष्कर्षः- अतः निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते है कि आधुनिक युग में योग जैसी कठिन साधना करना सम्भव नही है तथा हमारे चारों पुरूषार्थ में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सिर्फ भक्ति ही ऐसा मार्ग है, जिसके माध्यम से हम भगवान की कृपा प्राप्त कर सकते है। नवधा भक्ति के उपाय द्वारा हम पूर्णतः भगवान के प्रति समर्पित हो सकते है। भगवान का शुद्ध भक्त सभी योगियों से ऊपर तथा अत्तिउत्तम है। यथा च कथितं-

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्रोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।8

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1. श्रीमद्भगवद्गीता, 1.5
2. श्रीमद्भगवद्पुराण, 7/5/23
3. श्रीमद्भगवद्गीता, 7.1
4. वहीं, 8.8
5. वहीं, 9.26
6. वहीं, 9.34
7. वहीं, 9.27
8. वहीं, 18.56

श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् में कर्म-सिद्धांत

डॉ० राकेश शर्मा, सह-आचार्य ,संस्कृत विभाग
राजकीय महाविद्यालय संजौली -शिमला
हि०प्र० 9418493376, r2rkavya@gmail.com

शोध-सारांश

श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् पुराण भारतीय दर्शन और हिन्दू धर्म के आधारस्तम्भ ग्रंथ माने जाते हैं । हिन्दू ग्रन्थों में दोनों ही ग्रन्थ भारतीय संस्कृति और धार्मिक विचारधारा में सर्वश्रेष्ठ व अत्यधिक महत्वपूर्ण है और वर्तमान समय में इनसे प्रेरणा और जीवन में मार्गदर्शन प्राप्त किया जा सकता है । ये ग्रन्थ जन समुदाय को मानसिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक दिशा प्रदान करते हैं, जिससे व्यक्ति जीवन की जटिल समस्याओं से भी छुटकारा पा सकता है। संक्षेप में इन दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से हम कर्म-सिद्धांत, आध्यात्मिक मार्गदर्शन, नैतिक-सिद्धांत, मानवीय मूल्य, भक्ति और प्रेम, संस्कृति व परम्पराओं आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। दोनों ही ग्रन्थों में कर्म के सिद्धांत का निरूपण प्रमुखता से किया गया है। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट रूप से कर्म करने की प्रेरणा दी है और कर्म को ही अपना धर्म मानने को कहा है, जिससे व्यक्ति अपने जीवन का वास्तविक उद्देश्य समझ सकता है। गीता में कहा गया है- **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।** गीता में स्पष्ट रूप से निष्काम कर्म की अवधारणा पर बल दिया गया है। यानी कर्म को बिना किसी स्वार्थ या अपेक्षा से करना ही निष्काम कर्म है। ऐसा कर्म करने से मनुष्य आत्म उन्नति की ओर अग्रसर होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से संसार के प्रत्येक प्राणी को नि:स्वार्थ भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करने का सन्देश दिया है। भागवत पुराण में भी कर्म सिद्धांत पर कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के कर्म उसके जीवन पर विशेष प्रभाव डालते हैं । अच्छे कर्म सुख, समृद्धि और शांति लाते हैं, जबकि बुरे कर्म दु:ख और विपत्ति का कारण बनते हैं। यह सिद्धांत कर्मों के फल की अवधारणा को सशक्त बनाता है। भागवत में यह स्पष्ट कहा गया है कि व्यक्ति को

अपने कर्मों में सत्य, करुणा और प्रेम की भावना को अपनाना चाहिए। दोनों ग्रंथों में निष्काम कर्म के साथ-साथ भक्तिपूर्वक कर्मों में सत्य और धर्म के पालन का संदेश भी दिया गया है अर्थात् वहां यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य ऐसा कर्म करे कि उसकी आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाए। श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् पुराण में कर्म का सिद्धांत जीवन की नैतिकता, उद्देश्य और आत्मा के विकास के लिए उपयोगी है। कर्म का उचित और सही आचार एवं व्यवहार व्यक्ति को सही मार्ग पर चलने में सहायता करता है, यही इस जीवन की वास्तविकता है और यही इस शोध पत्र को लिखने का उद्देश्य है ।

कूट शब्द - अवधारणा, आध्यात्मिक, मार्गदर्शन, नैतिक-सिद्धांत, आसक्ति, निष्काम, श्रीमद्भगवद्गीता ।

परिचय - श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ है, जो महाभारत का एक अंश है। इसे 'गीता' के नाम से भी जाना जाता है। यह 700 श्लोकों में वर्णित है और इसमें भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच का संवाद प्रस्तुत किया गया है, जो हमारे आचार-व्यवहार से सम्बन्धित है। गीता के मुख्य विषय ज्ञान, भक्ति, कर्म और आत्मा के सिद्धांत हैं। श्रीमद्भगवद्गीता कुरुक्षेत्र के मैदान के युद्ध में अर्जुन की मानसिक स्थिति के बीच भगवान श्रीकृष्ण द्वारा दिए गए उपदेशों का संग्रह है, जिसमें निष्काम कर्म, भक्ति और योग के महत्व को स्पष्ट किया है और यह हमारे व्यावहारिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के लिए मार्गदर्शन प्रदान करती है। इसके साथ भागवत पुराण भी हिन्दू धर्म का एक प्रमुख ग्रन्थ है, यह 12 स्कंधों में विभाजित है और इसमें 18000 श्लोक हैं। भागवत पुराण में भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं, उनके जन्म और भक्ति के महत्व का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसका केंद्र बिंदु भगवान की भक्ति और उनकी दिव्य लीलाओं का वर्णन है। भागवत पुराण ने भक्तिमार्ग की नींव रखी और यह दिखाया कि भक्ति और प्रेम के माध्यम से आत्मा का उद्धार संभव है। दोनों ग्रंथ भारतीय संस्कृति और धर्म में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। गीता हमें जीवन के कर्तव्यों और नैतिकताओं की समझ देती है, जबकि भागवत पुराण हमें भक्ति और प्रेम के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। दोनों ग्रंथों का अध्ययन व्यक्ति को आत्मा की गहराइयों में ले जाता है और जीवन को सार्थक बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

कर्म-सिद्धांत भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण और केंद्रीय तत्व है, जो न केवल व्यक्तिगत जीवन को संचालित करता है बल्कि सृष्टि और समाज का संचालन करने हेतु भी महत्वपूर्ण है। कर्म का अर्थ है कार्य या क्रिया और यह सिद्धांत बताता है कि मनुष्य के सभी कार्यों का उसके जीवन में विशेष महत्व होता है अर्थात् 'कर्म-सिद्धांत' एक व्यापक दृष्टिकोण से मानव जीवन के हर पहलु में व्याप्त है। इस सिद्धांत का आधार यह है कि प्रत्येक कार्य का परिणाम होता है जो न केवल व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करता है बल्कि उसके पुनर्जन्म पर भी असर डालता है। हमारे समाज में कर्म को सामान्यतः तीन भागों में बांटा गया है- **सकाम कर्म**- ये वे कर्म हैं जो फल की इच्छा के साथ किए जाते हैं, इसमें व्यक्ति अपने लाभ के लिए काम करता है। **निष्काम कर्म**- ये वे कर्म हैं जो बिना किसी फल की इच्छा के किए जाते हैं, इस प्रकार के कर्म का उद्देश्य केवल कर्तव्य का पालन करना होता है। **विकर्म**- ये वे कर्म हैं जो अनैतिक या अवैध होते हैं, ये कर्म व्यक्ति को दुख और कष्ट की ओर ले जाते हैं। कर्म-सिद्धांत में कर्म और फल के बीच एक गहरा संबंध है। प्रत्येक कर्म का फल निश्चित होता है और अच्छे कर्म अच्छे फल देते हैं, जबकि बुरे कर्म बुरे फल। जैसा कि कहा भी गया है- **'यो यद्वपति बीजं हि लभते तादृशं फलम्'**। अर्थात् जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही फल पाता है। यह सिद्धांत 'कर्मफल' के रूप में जाना जाता है और यह व्यक्ति को अपने कार्यों के प्रति जिम्मेदार बनाता है। कर्म सिद्धांत के अंतर्गत व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करने की प्रेरणा दी जाती है। अपने स्वधर्म का पालन करना आवश्यक है और यह कहा गया है कि धर्म के अनुसार किए गए कर्म फलदायी होते हैं। कर्म का सिद्धांत पुनर्जन्म से भी जुड़ा हुआ है। भारतीय धार्मिक विश्वासों के अनुसार जो कर्म इस जीवन में किए जाते हैं, उनके फल अगले जन्म में भोगने होते हैं। यह अवधारणा आत्मा के चक्रवात को समझने में मदद करती है। इस शोध पत्र के माध्यम से श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् पुराण में वर्णित कर्म के सिद्धांतों का विस्तृत विश्लेषण किया जाएंगा, जो हमारे जीवन का मार्गदर्शन करने में हमारी पग-पग पर सहायता करता है।

शोध कार्य का उद्देश्य - कर्म सिद्धांत भारतीय संस्कृति और दर्शन का एक अनिवार्य हिस्सा है। यह हमें सिखाता है कि हमें अपने कार्यों का ध्यानपूर्वक चयन करना चाहिए और बिना किसी स्वार्थ के अपने कर्तव्यों का पालन करना

चाहिए। इस सिद्धांत के माध्यम से व्यक्ति न केवल अपनी आत्मा के उत्थान की दिशा में बढ़ता है बल्कि समाज के प्रति भी अपनी जिम्मेदारियों को समझता है। यही इस शोधकार्य का उद्देश्य है और साथ में भारतीय दर्शन विशेषकर गीता एवं भागवत में कर्म-सिद्धांत की अवधारणा को स्पष्ट करके आधुनिक युग में इसकी प्रासंगिकता को सिद्ध करना है ।

श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् पुराण में परमात्मा की प्राप्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं- ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और निष्काम कर्ममार्ग। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म सिद्धांत के महत्त्व को बहुत विस्तार के साथ समझाया है। गीता में निष्काम कर्म का सिद्धांत महत्वपूर्ण और उपयोगी है, जिसका अर्थ होता है बिना किसी फल की इच्छा के कर्म करना। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से समस्त संसार को निष्काम कर्म करने का उपदेश व सन्देश दिया है, उनके अनुसार सभी को कर्म करते रहना चाहिए, उसके फल की चिंता नहीं। इस कर्म के सिद्धांत के पीछे का तात्पर्य यह है कि जब हम अपने कार्यों का फल भगवान पर छोड़ देते हैं, तो हम मानसिक रूप से शांत रह सकते हैं। अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन को फलासक्ति रहित होकर निष्काम कर्म के रूप में युद्ध करने की आज्ञा दी है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मां कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।[1]

अर्थात् कर्म करने में ही मनुष्य का अधिकार होना चाहिए उसके फलों में नहीं । हमें अपने कर्म पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए उसके फल पर नहीं । मनुष्य को कर्मों के फल का हेतु नहीं बनना चाहिए और न ही कर्मों में उसकी आसक्ति होनी चाहिए ।

श्रीमद्भागवत पुराण के ग्यारहवे स्कन्ध के दसवे अध्याय में भी सकाम कर्म की निंदा करते हुए निष्काम कर्म की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण ने उद्धव को निष्काम भाव से कर्तव्यों का सावधानीपूर्वक पालन करने का और त्रिगुणात्मक पदार्थों को सत्य समझ कर नैष्काम्य कर्मों का उपदेश दिया है। उन्होंने उद्धव के माध्यम से समाज के लोगों को स्पष्ट रूप से सन्देश दिया है

1 श्रीमद्भगवद्गीता- 02/47

कि प्रभु के उपर श्रद्धा- भावना रख कर नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करना चाहिए, न कि काम्य कर्मों को –

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम् ।।[1]

हमारे मन में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम कर्म कैसे करे और कौन से कर्म करे ? तथा कर्मों की गति कैसी होनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय 'कर्मयोग' में बहुत विस्तार के साथ दिया गया है, जहाँ भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥[2]

अर्थात् मनुष्य को निरंतर कर्मफल की आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्यकर्म को भलीभाँति करते रहना चाहिए क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ वह परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। जो व्यक्ति कर्मों के फल की आसक्ति का त्याग करके कृष्णभावनामृत में कार्य करता है, वह निश्चित रूप से जीवन-लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। मनुष्य को ऐसा ही कर्म करना चाहिए क्योंकि यह उच्चतम कोटि का कर्म है, जिसकी संस्तुति भगवान कृष्ण ने गीता में स्वयं की है। शास्त्रों में मुख्यतः दो प्रकार के कर्मों का वर्णन किया गया है- विहित कर्म और निषिद्ध कर्म। जिन कर्मों को करने के लिए शास्त्रों में उपदेश किया गया है, उन्हें विहित कर्म कहते हैं और जिन कर्म को करने के लिए शास्त्रों में मनाई की गयी है, उन्हें निषिद्ध कर्म कहते हैं। प्राचीन काल में जनकादि प्रधान महापुरुष भी आसक्ति से रहित शास्त्रोक्त विहित कर्मों को करते हुए ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। अतः सामान्य लोगों को शिक्षित करने हेतु श्रेष्ठ पुरुषों को निहित अनासक्त कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि महापुरुष जैसा -जैसा आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा -वैसा आचरण करते हैं।[3]

---

2 श्रीमद्भागवद्गत पुराण- 11/10/04

3 श्रीमद्भगवद्गीता- 03/19

4 श्रीमद्भगवद्गीता- 03/20-21, यद्यदाचरति श्रेष्ठतत्तदेवेतरो जनः

भागवत पुराण की विभिन्न कथाओं के माध्यम से भी विहित कर्म और निषिद्ध कर्म के फलों का निरूपण किया गया हैं। विहित कर्म करने से व्यक्ति को अगले जन्म में उच्च योनि में जन्म मिलता है, जबकि निषिद्ध कर्म करने से उसका निम्न योनि में जन्म होता है। इस तरह भागवत पुराण में कर्म के फल को न केवल वर्तमान जीवन से, अपितु भविष्य के जीवन में भी जोड़ा गया है। भागवत में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि अच्छे और बुरे कर्मों का फल इस जन्म के साथ- साथ अगले जन्मों में भी प्राप्त होता हैं क्योंकि यह सांसारिक चक्र निरंतर चलता ही रहता है। हम जैसे-जैसे कर्म करते हैं, वैसे-वैसे लोकों की हमें प्राप्ति होती है। इसलिए हमेशा अशुभ कर्मों का त्याग करके शुभ कर्म करने चाहिए। जो कर्म स्वयं को और दूसरों को भी सुख-शांति दें, वे शुभ कर्म हैं और जो क्षणभर के लिए ही अस्थायी सुख दें और भविष्य में अपने को तथा दूसरों को भगवान से दूर कर दें, कष्ट दें, नरकों में पहुँचा दें उन्हें अशुभ कर्म कहते हैं । शुभ या अशुभ कर्म कई जन्मों तक मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ते। पूर्वजन्मों के कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति को फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार कर्मों की गति को बड़ी गहनता के साथ ही समझा जा सकता है। गीता में भी कहा गया है-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥[1]

अर्थात् कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है, जिसकी बारीकियों को समझना जटिल कार्य है। भागवत में भी कहा गया है कि कर्मों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वे तो जड़ हैं और वृत्ति से प्रतीत होते हैं। न चाहते हुए भी दुष्कर्म में प्रवृत्ति देखी जाती है।[2] यदि शास्त्रोक्त कर्मों को करने से पुण्य फल की प्राप्ति मिलती है और निषिद्ध कर्मों को करने से पाप की प्रतीति होती है। अतः विहित अर्थात् शास्त्रोक्त कर्म करें। विहित कर्म भी नियंत्रित होने चाहिए। नियंत्रित विहित कर्म ही धर्म बन जाते हैं क्योंकि कर्म का धर्म से गहरा सम्बन्ध है। गीता में भी कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति का धर्म उसके स्वभाव और स्थिति के अनुसार होता है। अतः मनुष्य को अपने धर्म के अनुसार

---

5 श्रीमद्भगवद्गीता- 04/17

6 श्रीमद्भागवद्गत पुराण- 11/10/17

कर्म करना चाहिए, जिससे वह वास्तविक रूप से आत्मिक उन्नति कर सके।[1]भागवत में भी कहा गया है कि भक्ति के माध्यम से कर्मों का परिशोधन किया जा सकता है। भागवत में भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं और भक्तों के प्रति उनके अनुग्रह से यह स्पष्ट होता है कि भक्ति से व्यक्ति के कर्म भी आत्मिक दृष्टि से शुद्ध हो जाते हैं। मनुष्य के कर्मों से ही उसके गुण उत्पन्न होते हैं और सत्त्वादि गुणों के सम्बन्ध से ही जीव इस संसार में कर्म के फलों का भोग भी करता है-

गुणा: सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ।।[2]

गीता में भी इस बात को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि संसार के प्रत्येक प्राणी को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश हो कर कर्म करना ही पड़ता है क्योंकि इस सृष्टि का नियम है कि कोई भी प्राणी बिना कर्म किए एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक शरीर रहता है तब तक मनुष्य प्रकृति के अनुसार जो भी क्रियाएं जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना, सोना, ध्यान-मनन करना और समाधिस्थ आदि करता है, वो सब व्यक्ति के कर्म के अंतर्गत आती हैं। अतः कोई भी प्राणी अपने से कर्तापन का त्याग नहीं कर सकता।

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि इस संसार की सारी वस्तुएं ईश्वर से व्याप्त हैं[3] अर्थात् परब्रह्म या कृष्ण से सम्बन्धित है। जो इस बात को भली-भांति जानता है, वह व्यक्ति संसार की प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की सेवा में नियोजित करके और अपने सभी कर्मों को भी उसको समर्पित करके आसक्ति रहित होकर अपना कर्म करता है, वह पापकर्मों के कल्मष से वैसे ही परे रहता है जैसे कि कमलपत्र जल में रहकर भी भीगता नहीं है अर्थात् गीता में अनासक्त कर्म पर बल देते हुए कहा गया है कि जिस व्यक्ति के कर्म में आसक्ति का अभाव है वह पुरुष कर्म करता हुआ जल में कमल के पत्ते की भांति पाप से लिप्त नहीं होता-

---

7 श्रीमद्भगवद्गीता- 03/35

8 श्रीमद्भागवद्गत पुराण- 11/10/31

9 ईशावास्योपनिषद्- 01/01, ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सगं त्यक्त्वा करोति य:।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।[1]

श्रीमद्भगवद्गीता के दुसरे अध्याय के श्लोक संख्या 48 में कहा गया है कि **"योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय"**[2] - अर्थात् आसक्ति की भावना का त्याग करके हमें योग में स्थित होकर कर्म करना चाहिए। हमें चंचल रहने वाली इन्द्रिय को वश में करते हुए और कार्य की सिद्धि अथवा असिद्धि की परवाह किए बिना ही समभाव से एकाग्रचित हो कर कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि "**कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते**"[3] । अर्थात् बिना किसी आसक्ति के कर्मयोग को प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति उत्कृष्ट कोटि का होता है। भगवद्गीता हिंदू धर्म की नैतिकता का एक स्रोत है, जिसमें कर्म के फल की आसक्ति के बिना अपने कर्तव्य का पालन करने का उपदेश दिया गया है, जो व्यक्ति को जीवन में अपने कर्मों के बारे में कई महत्वपूर्ण बातें बताता है। कर्म की अवधारणा के विविध रूप है। गीता में कहा गया है कि मनुष्य को फल के बारे में चिंता नहीं करनी चाहिए, जो उसको समझ में आता है, उसके साथ काम करें और बाकी के बारे में चिंता न करें। कर्तव्यकर्म का पालन करने से स्वयं, समाज और ब्रह्मांड का भरण-पोषण होता है।[4] मनुष्य को अपना कर्म निभाते हुए पवित्र कर्तव्य में विश्वास रखना चाहिए, पराये कर्मों में प्रवृत्ति होना श्रेयस्कर नहीं है अर्थात् दूसरों के कार्यों में दखल देना अनुचित है।[5] आप एक अध्यापक है या छात्र हैं, तो एक अच्छे अध्यापक या छात्र बनें। आप एक बेटा या बेटी, भाई या बहन, माता-पिता, कर्मचारी या नागरिक हैं, तो इन भूमिकाओं को अच्छी तरह से निभाते हुए सत्कर्म करें।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण: ।।[6]

10श्रीमद्भगवद्गीता- 05/10
11श्रीमद्भगवद्गीता- 02/48
12श्रीमद्भगवद्गीता- 03/07
13श्रीमद्भगवद्गीता- 03/14-24
14श्रीमद्भगवद्गीता- 03/35
15श्रीमद्भगवद्गीता- 03/08

श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन को शास्त्रविहित सत्कर्म करने की प्रेरणा देते हुए कह रहे हैं कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है अर्थात् मनुष्य को शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म रूप स्वधर्म का अवश्य पालन करना चाहिए, क्योंकि जो स्वधर्म रुपी कर्म का पालन करता है, वह ही वास्तव में सफलता और संतोष को प्राप्त करता है। यदि मनुष्य अपने कर्मों का त्याग करता है, तो वह पाप का भागी बन कर जीवित भी नहीं रह सकता, क्योंकि शरीर के निर्वाह के लिए उसे कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है। यदि मनुष्य नियत कर्मों का त्याग कर दे तो उसका पतन भी हो सकता है। इसीलिए गीता में अकर्म की अपेक्षा सत्कर्म को उत्तम कहा गया है।

निष्कर्ष- अंत में निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत में वर्णित कर्म के सिद्धांत का विशेष महत्त्व है, जिसका अध्ययन जीवन के विविध पहलुओं को समझने में हमारी सहायता करता है। आज के समय में व्यक्ति को गीता और भागवत से प्रेरणा लेने की अत्यंत आवश्यकता है, क्योंकि तकनीकी युग के भागदौड़ भरे मानव-जीवन में विभिन्न समस्याएं और दुविधाएं हैं, जिनका निराकरण इन्ही दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रंथों में दिया गया है। गीता में न केवल कर्मयोग को सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है, अपितु दोनों ग्रंथो में ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी का भव्य निरूपण किया गया है, जिसमें डुबकी लगाकर भक्तजन विभिन्न पापों से मुक्ति पा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत में धर्मपूर्वक निष्काम तथा शास्त्रोक्त कर्म-सिद्धांतों का पालन करने का स्पष्ट सन्देश दिया गया है, जिससे व्यक्ति अपना व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से विकास कर सकता है तथा अपने सत्कर्मों के माध्यम से समाज को अपना सकारात्मक योगदान दे सकता है, जिससे संसार की गति चलायमान रहती है ।

महाभारते कर्मक्रियायोगयोः सिद्धान्तः गीतायाः सन्दर्भे

नुपूर

शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग,

गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

क्रियायोगशब्दस्य तात्पर्यम् :-

महर्षिपतञ्जलिः समाहितचित्तस्य युक्तानां श्रेष्ठानां अधिकारिणां कृते अभ्यासरूपेण, त्यागरूपेण च राजयोगस्य प्रचारं कृतवान् आसीत् । ये पूर्वजन्मेषु जप-तप-समाधि-आदि-सर्वभारं अतिक्रान्ताः, येषां योगसाधना सिद्धिं न प्राप्ता, साधनायां मृताः, येषां प्रतिबिम्बं मातृदेवे समाहितं भवति, ते एव उत्तमाः अधिकारिणः सन्ति । एतादृशानां उत्कृष्टानां योगाधिकारिणां आरम्भदेवः योगस्य अभ्यासस्य आवश्यकता नास्ति। अभ्यास-अनुरागेण पूर्वाभ्यासं सम्पन्नं कृत्वा ते सम्प्रज्ञातअसम्प्रज्ञायोगं प्राप्नुवन्ति । योगभ्यासस्य वैशिष्ट्यम् अस्ति यत् एकसाधकः यावत्पर्यतं योगः कृतः । तस्य अभ्यासः बहुजन्मविच्छेदानन्तरम् अपि न नश्यति। यावत् सः अभ्यासं कृतवान्, त्यक्तवान् च, तस्य साधना ततः परेषु जन्मेषु आरभ्यते। भगवान् अर्जुनः अपि तथैव वदति -

नेहाभिक्रमनाशोस्ती प्रत्यावायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

अर्थात् अस्मिन् योगमार्गे अभिक्रमः अर्थात् आरम्भस्य नाशः न भवति। अस्माभिः यः अभ्यासः आरब्धः सः अस्माकं मनसि निहितः अभवत्। चिकित्सादिव कृतोऽभ्यासः तस्मिन् विघ्नः सन् अपि अपव्ययः न गच्छति। अर्थात् यदि औषधं चिकित्सायै निरन्तरं सेव्यते तर्हि चिकित्सा सफला भवति, यदि औषधं मध्यमार्गे निरुद्धं भवति तर्हि पूर्वचिकित्सा निष्प्रयोजनं भवति।

साधकाः वैराग्यं भोक्तुं न शक्नुवन्ति येषां मनः अनिष्टम्। येषां योगाभ्यासस्य महती इच्छा अस्ति, परन्तु येषां मनः चञ्चलम् अस्ति , तेषां

कस्यचित् कठोरसाधनस्य आवश्यकता वर्तते। एतादृशाः अधिकारिणः मध्यमाधिकारिणः इति उच्यन्ते।

ईश्वरः-

जीवशक्तिः, प्रभुः, शक्तिः, अस्मिन् शब्दे त्रयस्वराः सन्ति, ई-स्व-र। ई वा ईकारः इति श्वासशब्दः । शास्त्रेषु 'ईकारे' प्रविसन्ति । इति शब्दस्य अर्थः 'ईकार' इति शब्देन प्राणः प्रविशति ।'श्व' वा श्वकारशब्दस्य अर्थः 'अहम्' इति अर्थात् यः नित्यः निःश्वासनिष्कासनयोः जन्ममरणयोः वा मध्ये विद्यमानः आत्मा। अस्य 'अहम्' शब्दस्य जन्ममृत्युः नास्ति । अहं जन्ममरणयोः उपरि अस्मि। 'अहं' 'प्रभु, 'आत्मा', अमृतस्य पुत्रः अथवा अमरस्य पुत्रः, ईश्वरस्य पुत्रः, आत्मा वा भगवान् श्रीकृष्णः इति अपि निर्दिष्टुं शक्यते। 'र' वा रकार इति श्वासत्यागशब्दः । अर्थात् मृतात्मा अथवा क्षीणमायुः।

प्रणिधानः-

प्रणिधानं वा आत्मधारणम्। यत् सर्वदा आत्मानं धारयति, पोषयति च, तथैव निःश्वासनिःश्वासयोः युक्तिं अभ्यासं करोति, तस्य आत्मावायुआत्मयोः निरन्तरं अध्ययनं करोति।

क्रियायोगस्य मूलभूताः-

'क्रियायोगः' श्वासधारणा, श्वासनिरोधः, निःश्वासः च इति सिद्धान्तेषु आधारितः अस्ति तथा च तस्य अभ्यासः "समीर विजय श्वरद्वयः" अर्थात् जागृतः निरन्तरनियन्त्रणं च वायुः (श्वास) विजयः अर्थात् निःश्वासस्य प्रश्वासस्य च समये उत्पन्नः इति कथ्यते। प्रतिश्वासे अध्ययनं क्रियमाणे अक्षरद्वये आश्रितं भवति । अन्येषु शब्देषु योगः आत्माकार्यस्य अभ्यासः अस्ति तथा च प्रत्येकं प्राणः एकमपि निःश्वासं न स्थगयित्वा धारयितव्यम्।

पतञ्जलियोगसूत्रस्य प्रथमः अध्यायः "समाधिः" इति। समाधि किम्, कथं एतां स्थितिं तत्सम्बद्धानि घटनानि च व्याख्यायते । अवश्यं समाधुस्य वर्णनं कथा-अनुमान-आधारितम् अस्ति । समाधिअवस्था प्राप्तुं तस्य कौशलानां नियमितरूपेण अभ्यासः करणीयः। अस्मिन् अध्याये पतञ्जलिः प्रथमविधिरूपेण 'प्रत्याहारः' इति विषये उपदिशति,अनेन सर्वं क्षयं भविष्यति । निवृत्तेः अनन्तरं पतञ्जलिः धारणां, ध्यानं च विषये उक्तवान् । केवलं धारणा अवस्थायां समाधं चिन्तयितुं शक्यते, विभूतिपादैः समाधिम् अवस्थां प्राप्नोति ।

सम्पूर्णेषु योगसूत्रेषु तपः, स्वाध्यायः, ईश्वरः प्राणिधानस्य च कला कार्ययोगः अस्ति। अनेके जनाः मन्यन्ते यत् 'तपः' अतीव कठिनम् अस्ति, तस्य अभ्यासार्थं गृहं त्यक्त्वा वनं प्रति विविधस्थानं प्रति च तपस्वी गन्तुं प्रभवन्ति । तपस्य गहनः अर्थः अस्ति यत् श्वासनद्वारा ईश्वरपूजनाय ऊर्जा, आन्तरिकतापः च प्राप्यते । शिवः प्रायः नग्नः, व्याघ्रचर्मधारी, नागमालायुक्तः, छिन्नशिरसि चन्द्रं धारयन्, गङ्गमाता च सहचरः भवति। शिरसा अवतरन् शूलहस्तेन अनन्तदम्बहस्तेन च हिमालये तपः अकरोत् इति चित्रे उल्लिखितम् अस्ति । पूर्वोक्तानि शिववर्णनानि सर्वाणि प्रतीकात्मकानि सन्ति। नग्नत्वस्य अर्थः अस्ति यत् ऊर्जा सर्वदा नग्ना वा अनावृता सून्य भवति। व्याघ्रचर्मधारणेन शिवः सर्वदा स्वतन्त्रः, न किमपि प्रभावितः इति अर्थः । नागः शरीरात् पृथक् वसति इत्यर्थः । नागस्य आत्मा स्पर्शदृष्टिघ्राणयोः सीमितः भवति । दीर्घकेशस्य इडा, पिङ्गला, सुसुन्मा च प्रतीकं धारयन् पुरातनकृतीनां युग्मस्थापनं भवति । **'कलौ सर्पं जालम्'** इति । शिवप्रसङ्गे चन्द्रः विजमन्त्रः मूलशब्दः वा, यस्मात् अन्ये शब्दाः निष्पन्नाः। चन्द्रः सृष्टेः गर्भः हिरण्यगर्भस्य चन्द्रबिन्दुः ब्रह्माण्डस्य उद्घाटने इडा (यमुना), पिङ्गला (गंगा) सुसुन्मा (सरस्वती) च अपि उद्घाट्यन्ते । ब्रह्मरन्ध्रः गङ्गायाः शिरः भवति तथा च यमुना सरस्वती च तस्मिन् विलयभूत्वा अस्तित्वं नष्टं कुर्वन्ति। वस्तुतः एतदेव साधनायाः परमलक्ष्यम्। त्रयी अर्थस्थानं सूक्ष्मं कारणं च प्रतिपादयति। ये मेरुदण्डस्य शिखरे समागच्छन्ति । सारांशेन भगवान् शिवः सृष्टेः विनाशस्य च सार्वत्रिककारणः अर्थात् शून्यतायाः अनादित्वस्य च प्रतीकं प्रवहति । तस्मात् दृष्ट्या शिवः कस्यापि धर्मेण बद्धः न भूत्वा समग्रं सृष्टिं घटनां च प्रतिनिधियति। सः मानवजीवनस्य मूर्तरूपः अस्ति, अनादितायाः, सर्वथा शून्यतायाः, च प्रतीकः अस्ति । 'ईश्वरः' इत्यस्य वास्तविकः अर्थः निःश्वासः (इ-कारः), श्वासं धारयितुं (श्व-कारः) श्वासं विमोचयितुं (र-कारः) इति । अस्माभिः प्रथमे अध्याये (सूत्रं १.२३) विस्तरेण चर्चा कृता । शास्त्रेषु 'पुरुषविशेषः ईश्वरः' इति । प्रत्येकं श्वासे 'विशेषः पुरुषः' विशेषः आत्मा भवति, सः एव ईश्वरः इति । यदि केवलं ईकारं, रकारं श्वकारं च आचरति

तर्हि 'तपः' उष्णतां च सृजति । एतां गुह्यप्रक्रियां यः सर्वदा अभ्यासं करोति सः वास्तविकः क्रियायोगि भवति ।

केचन शास्त्राणि भिन्न-भिन्न-श्वास-विषये, तेषां भिन्न-भिन्न-स्वभाव-ध्वनि-विषये च कथयन्ति । यथा क्रोधनिःश्वासः, निद्राश्वासः, ध्यानस्य निःश्वासः, अभिमानस्य निःश्वासः, शान्तस्य च निःश्वासः, क्रोधस्य निःश्वासः स्वस्य मृत्युं जनयितुं शक्नोति। भ्रामरी इव क्रोध-श्वासः शरीरस्य अन्तः गभीरं परिभ्रमति, मनः-शरीर-स्थितिं, आन्तरिक-शक्तिं च नाशयति । ध्यानश्वासस्य शब्दः अद्वितीयः अस्ति, तेन मनः,कर्मस्य उपरि प्रभावितः भवति। 'ईकार शक्तिदायकम्', अर्थात् श्वासः आन्तरिक ऊर्जालाभस्य साधनं तेन च सृष्टेः सर्वरूपं भवति । यथा ईकारः श्वासः युक्तः, तस्य सम्यक् प्रयोगाय सर्वदा जाग्रतभुत्वा सम्यक् प्रकारेण अभ्यासः करणीयः।

नातपस्विनो योगः सिध्यति । अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थित-विषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम्, तच्चः चित्तप्रसादनमवाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादि- पवित्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परंगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ॥

तपसा, स्वाध्यायेन ईश्वरप्रणिधानेन (शरणागत्या) च योगस्य क्रियारम्भो भवति। गताध्याये महर्षिणैकमात्रेश्वरस्वरूपम्, एकेश्वरस्य शरणं तस्य नाम जपनमुदीरितम्, अधुना प्रस्तुताध्याये स ब्रूते यत् मनसा सहितमिन्द्रियदलमिष्टानुरूपं करणमस्ति तपः। स्वमनसः स्वयमध्ययनविधानमस्ति स्वाध्यायो यन्मनसा कियतानुरक्तेण भवितव्यं कियन्यनुरक्तिश्चाभूत् सफला, आप्तपुरुषाणां वचसोऽनुरूपं कियान्सफलोऽस्मि, सम्प्रति कियत्यस्खुटयः सन्ति? अनेन प्रकारेण स्वस्याध्ययनं कुर्वन् साधनायामग्रे सरणमस्ति स्वाध्यायः । ईश्वरप्रणिधानमर्थादेकमीश्वरं प्रति मनसा, कर्मणा, वचसा समर्पणम् कृते सत्येव अलमेतद् योगक्रियाया भवत्यारम्भः। अस्य क्रियायोगस्यास्ति कावश्यकता? अत उपरि प्राह-

व्याख्याः-

योगदर्शनस्य अन्तर्गतं महर्षिपतञ्जलिना मनसः क्रियाशीलतायाः चर्चा कृता अस्ति । एतस्य त्यागः 'योग' इति कथ्यते । या चात्मनः अन्तिमावस्थायां साधित्वा सः लोकं न प्रत्यागच्छति। एतां स्थितिं प्राप्तुम् अभ्यासः, त्यागः, ईश्वरभक्तिः च आवश्यकी इति उच्यते स्म, । परन्तु एते सर्वे उपायाः यस्य अन्तःकरणं शुद्धं, यस्य योग-अभ्यास-प्रवृत्तस्य, यस्य पूर्वानुभवः अस्ति, तस्य कृते एव सन्ति । साधारणाः जनाः ये आध्यात्मिकम् अभ्यासम् आरभतुम् इच्छन्ति। एषा साधनास्थितिः तस्य कृते महत्त्वपूर्णा अस्ति, येन सः बीजहीनसमाधिं प्राप्तुं शक्नोति। योगसिद्धये द्वौ मार्गौ स्तः । प्रथमं कर्मणो द्वितीयं च अकर्मणः। सांख्ये अकर्मणः मार्गः इति प्रोक्तः।

उक्तं कर्म बन्धमात्रमिति । प्रत्येकं कर्म निश्चितरूपेण स्वकीयं परिणामं ददाति यस्मात् मोक्षस्य सम्भावना नास्ति। परन्तु योगः 'कर्म' विषये वदति यतोहि मनः स्वाभाविकतया केवलं कर्मणि एव रुचिं लभते। अतः योगाभ्यासः कर्मणा एव आरभ्यते, परन्तु कर्मगतिः स्वर्गात् अग्रे नास्ति, अतः मुक्तिसाधकस्य तत्र गत्वा अकर्मप्रवेशः कर्तव्यः भवति यदि साधकः आदौ एव साक्षात् अकर्ममार्गं गृह्णाति तदा सः आलस्यं निष्प्रयोजनं च भूत्वा भ्रष्टमपि भवेत् । अतः योगमार्गः सुरक्षितः अस्ति।

महर्षिपतञ्जलिः सर्वप्रथमम् अस्मिन् साधनपादे 'क्रियायोगम्' व्याख्यायते। यत् मोक्षप्राप्त्यर्थं सहायकं भवति। एतानि तपः, स्वाध्यायः, ईश्वरसमर्पणं च। अस्मिन् 'ईश्वरसमर्पणम्' इति एकमात्रं साधनं यत् साधकः स्वस्य शरीरं, मनः, बुद्धिः, अहङ्कारं च सम्पूर्णतया ईश्वरं समर्पयति। सः स्वस्य व्यक्तिगततां त्यक्त्वा ईश्वरस्य इच्छानुसारं कार्यं करोति। सः स्वं वेणुपोङ्गी इति मन्यते यस्मिन् सर्वे स्वराः एकस्यैव ईश्वरस्य भवन्ति । सः स्वं रिक्तं करोति येन ईश्वरः तस्य हस्तं गृह्णाति। सः स्वस्य सर्वाणि कर्माणि ईश्वरस्य इति मन्यते, स्वस्य अनुमतिं च करोति, तेषां परिणामान् अपि तस्मै अर्पयति। तादृशः साधकः कर्मं न सञ्चयति। तस्य मानसिकप्रवृत्तयः

स्वयमेव समाप्ताः भवन्ति। यस्मात् कारणात् सः मोक्षस्य अधिकारिणः भवति। यदि सः सम्पूर्णतया समर्पणं कर्तुं न शक्नोति तर्हि श्रवणं, जपं, तस्य ईश्वरस्य गुणानां ध्यानं, तस्य प्रेम्णः इत्यादिभिः कार्यैः भक्तिभावं जागृतुं शक्नोति। अयमत्र ईश्वरसमर्पणार्थः। अस्मिन् प्रारम्भिकपादे पूर्णसमर्पणं सम्भवं नास्ति । तपस्विनः (पुरुषस्य) योगः सिद्धः न भवति। शाश्वतकर्मदुःखाभिलाषैः वर्णिता लौकिकजाले वर्तमाना अशुद्धिः प्रायश्चित्तं विना न क्षीयते । अत एव मया तपः स्वीकृतः। योगिनो च मनःप्रियं न बाधकं साधकेन तपः कर्तव्यः इति मन्यन्ते।

भारतीयः आस्तिकदर्शनेषु योगदर्शनम् अन्यतमम्। योगदर्शनं सुप्राचीनम्। उपनिषत्सु अपि योगस्य उल्लेखो दरीदृश्यते। हिरण्यगर्भो हि योगस्य प्रथमो वक्ता। योगसूत्ररचनामाध्यमेन पतञ्जलिः दर्शनरूपेण अस्योपस्थापनम् अकरोत्। योगशास्त्रस्य अपरं नाम सांख्यप्रवचनम् इति। भगवान् पतञ्जलिः योगसूत्रस्य प्रणेता। वाचस्पतिमिश्रप्रणीतः तत्त्ववैशारद्याख्यव्याख्याग्रन्थः समग्रस्यापि योगदर्शनस्य स्वरूपं महिमानं च प्रकाशयति । योगपदस्य अर्थो हि समाधिः। पतञ्जलिना सूत्रितं **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** इति। चित्तवृत्तयश्च पञ्च प्रमाणं विपर्ययः विकल्पः निद्रा स्मृतिश्चेति। एतासां चित्तवृत्तीनां निरोधः चित्तस्य सर्वासु भूमिषु भवति, परन्तु न हि ते सर्वे निरोधाः समाधिपदवाच्या भवन्ति। क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तम् एकाग्रं निरुद्धं चेति पञ्च चित्तभूमयः। एकाग्रभूमौ हि सम्प्रज्ञातसमाधिः भवति, निरुद्धभूमौ च असम्प्रज्ञातसमाधिः भवति। चित्तवृत्तिनिरोधेन हि चेतः समाहितं भवति। मन एव मनुष्याणां बन्धमोक्षयोः कारणम्। यद्यपि मनः विषयेषु दुःखनिदानेषु प्रवहति तथाऽपि अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः भवति।

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि"।

चतुर्विंशतितत्त्वानि तु अङ्गीकृतानि। कर्ता भोक्ता च चेतनः विकारशून्यः ईश्वरश्चात्र अङ्गीकृतः। अत एव मुक्तत्यर्थम् अष्टाङ्गयोगनिरूपणमिह उपपद्यते। सांख्यदर्शनवद् योगदर्शनेऽपि प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानादेव दुःखध्वंसरूपा मुक्तिः

स्वीक्रियते। तां च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिं प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानं वा लब्धुम् अष्टाङ्गानाम् आचरणम् अपेक्षितम् अस्ति।

तपः क्रियायोगस्य प्रथमः भागः अस्ति। तपः सर्वविधविग्रहान् सहजतया सहनम् इत्यर्थः । अधुना प्रश्नः उत्पद्यते यत् एषः कः विग्रहः ? विग्रहस्य अर्थः प्रतिकूलपरिस्थितेः आगमनम् । यथा शीततापः, क्षुधातृष्णा, लाभः-हानि, विजय-पराजयः, सुख-शोकः, मान-अपमानम् आदि परिस्थिति घटना। साधनायां योगी तादृशैः विग्रहैः व्याकुलः भवति ।

ध्यानकाले एतान् सर्वान् विग्रहान् सहजतया सहनं तपः कथ्यते । अर्थात् सुखं दृष्ट्वा गर्वः न भवति, दुःखं दृष्ट्वा भयं न भवति, सम्मानं च प्राप्य गर्वः न भवति, अपमानं प्राप्य अपमानं न भवति इति तपः कथ्यते। सर्वेषु अनुकूलेषु प्रतिकूलेषु च परिस्थितौ समं धारयन्। यावत् सुवर्णादिधातुः अग्निना न तप्ताः तावत् तेषां दोषाः अपसारयितुं न शक्यन्ते । तथा च यावत् साधकः तपस्याभट्टे न तापितः तावत् साधकः स्वस्य आध्यात्मिकाभ्यासस्य सफलतां प्राप्तुं न शक्नोति।

योगमार्गे तपः न कृतः, तस्य योगः कदापि न सिध्यति। अतः तपः क्रियायोगस्य प्रथमाङ्गत्वेन परिकीर्तिता, अनुवर्तनीया इति च उक्तम्। केचन जनाः मन्यन्ते यत् तपस्या अर्थः स्वशरीरे पीडां वा दुःखं वा दानं वा । यथा समन्ततः अग्निं प्रज्वाल्य तस्य मध्ये उपविष्टः अथवा एकपादे कतिपयान् मासान् स्थित्वा इत्यादि। किन्तु एषः तपस्यान्तः। गीतायाम् अपि तपसः वर्णनं कुर्वन् एतादृशः कष्टप्रदः तपः तामसी तपः इति उच्यते ।

योगदर्शने तपस्याभ्यासस्य विषये वदन् तपस्यायां कृता तपः मनसः प्रियं भवेत् न तु दुःखदम् इति उक्तम् । अतः तपस्यास्य वास्तविकं रूपं विग्रहान् सहजतया, विना प्रदर्शनेन सह सहितुं भवति।

तपस्यं शारीरिकं, वाचिकं, मानसिकं च इति विभागत्रयेषु विभक्तम् अस्ति । शरीरात् शीतादिकं सहित्वा चोर्यादिकम् अशुभं कर्म त्यक्त्वा सदा शुभं कर्म करणं च शारीरिकतपः।

परन्तु तपः तावत् परिमाणेन कर्तव्यः यत् शरीरं न व्याधिं प्राप्नोति, मानसिकः शान्तिः अपि तिष्ठति। तपस्यनाम्ना केचन जनाः क्षुधार्ताः तिष्ठन्ति। केचन जनाः अग्निना स्वशरीरं तापयन्ति । केचन जनाः एकेन पादेन तिष्ठन्ति। इदं न तपः। अस्य कारणात् शरीरम् अस्वस्थं भवति, मानसिकं अशान्तिं च भवति । अस्मिन् अवस्थायां मनुष्यः ईश्वरस्य पूजां कर्तुं न शक्नोति । एतेषां वाक्येन सत्यं मधुरं हितकरं च वक्तुं वाक् तपः। सङ्गं, द्वेषं, लोभं इत्यादीन् मनसा परित्यज्य सर्वेषु प्रेम्णः भावः मानसिकतपः एव। आदरप्राप्त्यर्थं तपः करणं न हितकरम्। यतः यदा आदरलाभस्य उद्देश्यं भवति तदा साधकः योगमार्गं त्यक्त्वा भोगमार्गं प्रति प्रवृत्तः भवति। सात्विक तपस्यं कृत्वा अनेकजन्मनाम् अशुभकामना क्षीणा भवन्ति, शुभसंस्काराः च भवन्ति।

२. स्वाध्यायः- स्वाध्यायस्य सामान्यार्थः आत्मनः अध्ययनम् अवलोकनं च भवति। अत्र स्वाध्यायः गायत्री इत्यादि वैदिकमन्त्राणां अर्थैः सह जपः इत्यर्थः । वेदोपनिषदादिमोक्षदायि शास्त्राणां च अध्ययनं स्वाध्यायः इति कथ्यते। स्वाध्यायनं कृत्वा साधकः सम्यक्-अधर्मस्य ज्ञानं प्राप्नोति। स्वाध्यायेन एव साधकः ज्ञायते यत् कानि कर्माणि कर्तुं योग्यानि, कानि च कर्तुं योग्यानि न सन्ति? अतः स्वाध्यायमानस्य जीवने सर्वदा प्रगतिः भवति । ओंकार इत्यादीनां पवित्रनामानां जपः, मोक्षप्रदानां शास्त्राणाम् अध्ययनं च स्वाध्यायः इति कथ्यते । मोक्षशास्त्रेषु वेदः, उपनिषदः, गीताः इत्यादयः सन्ति, भक्तस्य च मनः स्वाध्यायेन शुद्धं भवति ततः स्वाध्यायनं करोति एवं कृत्वा साधकः मोक्षं प्रति अधिकं गच्छति।

शास्त्रस्य अनुसारेण मुख्यतया स्वाध्यायस्य त्रयः अनुज्ञाः सन्ति- 'सत्यमवादधर्माचार' तथा 'स्वाध्यायन्म प्रमादः' अर्थात् सत्यं वदन्तु, धर्मानुसरणं कुर्वन्तु, स्वाध्याये प्रमादं न कुर्वन्तु। अस्याः प्रत्ययस्य अनुसारं स्वाध्यायमपि सत्यधर्मस्य तुल्यम् इति मन्यते । इतिहासः अस्य तथ्यस्य साक्षी अस्ति यत् जगति सर्वे महापुरुषाः केनचित् पुस्तकात् वा अन्यस्मात् वा प्रेरणाम् अवाप्तवन्तः । क्रियायोगस्य द्वितीयः भागः स्वाध्यायः अस्ति। मोक्षशास्त्राणां (वेदवैदिकग्रन्थानां)

पाठशिक्षणं प्रणवादीनां पवित्रमन्त्राणां अर्थैः सह जपः स्वाध्यायः एव । ये पुस्तकानि ईश्वरस्य, जीवानां, प्रकृतेः च यथार्थस्वभावं ज्ञातुं साहाय्यं कुर्वन्ति।

वैदिकस्वाध्याय: -

वैदिकस्वाध्यायस्य रूपं कपालस्य अन्तः ब्रह्मरन्ध्रनामकस्य स्थानस्य विज्ञानमयकोशे स्थिते बुद्धितत्त्वे प्रणबस्य ध्यानं यथा ध्यानद्वारा ओऽम् आकारं पश्यन् एव प्रयत्नः अथवा इत्यस्य अक्षराणाम् आकारं करणं ध्यानद्वारा गायत्री मंत्रः । तथा च वेदमन्त्रदर्शनोपनिषदवाक्यानां ध्यानं साक्षात्कारं कृत्वा सर्वे वैदिकस्वाध्यायप्रकाराः।

मौखिकस्वाध्यायः-

मोक्षसम्बद्धानां पवित्रशास्त्राणां, स्मृति-उपनिषदानां, आत्मा-ईश्वर-सम्बद्धानां ज्ञानानाम् अध्ययनं पाठनं च, ओंकार-वेद-मन्त्राणम् उच्चैः पाठः आध्यात्मिकदृष्ट्या वाचिकस्वाध्यायः एव ।

शारीरिकस्वाध्याय: -

शरीरं प्रत्येकं प्रकारस्य अध्ययनस्य समर्थनं करोति। वाक्बुद्धिद्वारा कृतः स्वाध्यायः तस्य साहाय्येन सफलः भवति। अस्मात् दृष्ट्या तस्य स्वाध्यायः अपि तथैव अवगन्तुं शक्यते, परन्तु मूकस्य च बालस्य पठनं हस्ताङ्गुलीभिः लिखित्वा, इशारद्वारा पठितुं शिक्षयन्, दिने दशवारं स्वाध्ययनं कृत्वा कृते दशघण्टाः शारीरिकक्रियाः परित्यज्य, अवाच्य जिह्वा-ओष्ठयोः चालनेन पाठेन वा लेखनेन वा इत्यादि शारीरिकः स्वाध्यायः ।

ईश्वरप्रणिधानः-

योगभाष्यकारः ईश्वरप्रणिधानस्य विषये वर्णनं करोति यथा-

ईश्वरप्रणिधानः सर्वक्रियाणांपरमगुरावर्पणं तत्फलसन्यानो वा ।

अर्थात् शरीरः-वाक्-बुद्धिः-द्वारा यानि कर्माणि क्रियन्ते, एकैकं लघु कर्मः परमपिता परमात्मने अर्पयित्वा तस्य फलम् ईश्वराय अपि अर्पयन्ति स एव ईश्वरप्रणिधनः। महर्षि पतञ्जलिः कथयति-

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

अर्थात् ईश्वरं प्रति समर्पितत्वात् मनः शुद्धं भवति शुद्धचित्ते एव आत्मा साक्षात्करो भवति।

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

अर्थात् वर्तमानकालात् पूर्वं यावत् तत्र स्थितानां सर्वेषाम् आचार्याणां गुरुणां वा गुरुत्वात् ईश्वरः परमो गुरुः यतः सः कदापि कालेन न नश्यति।

श्रीमद्भगवद्गीतायाम् ईश्वरस्य अस्तित्वस्य वर्णनं यथा –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

अर्थात् ईश्वरप्रीणनार्थं मृत्युपर्यन्तं निःस्वार्थकर्मणां करणस्य नाम ईश्वरप्रणिधानः इति। तथैव-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत तपस्यासे कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

अर्थात् सर्वाणि कार्याणि ईश्वराय अर्पयितुं तस्य ध्याने निमग्नाः भवितुं च सर्वदा एकाग्रतापूर्वकं स्वनामस्य चिन्तनं पाठनं च कुर्वन् ईश्वरस्य भक्तिः एव। व्यासः कथयति-

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्व त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

परिणामकामना निःस्वार्थेन वा यत्किमपि कर्मः करोति इति यावत् । ईश्वरं समर्प्य कर्तव्यं यतः सर्वाणि कार्याणि अन्तःकरणप्रेरणया एव सिध्यन्ति, एवं क्रियते –

ईश्वरप्रणिधानं सर्व क्रियाणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम् ।

अर्थात् परमगुरुपरमात्मने सर्वकर्मः समर्प्य फलस्य अपेक्षां विना ईश्वरप्रणिधनम् एव। अन्यपरिभाषातः स्पष्टं भवति यत् –

ईश्वरप्रणिधानं परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्य समर्पणम् ।

अर्थात् आत्मादिसत्यद्रव्यप्रेमेण सर्वाणि शक्तिः, सर्वगुणाः, जीवनं, आत्मानं, मनः च ईश्वरं समर्पयितुं 'ईश्वरप्रणिधानम्' इति। ईश्वरस्य अस्तित्वमपि एवम् अवगन्तुं शक्यते –

ईश्वरप्रणिधानं पुनर्मानसः कर्मयोगः ।

अर्थात् मनसः कर्मयोगः ईश्वरप्रनिधानम् उच्यते।

ईश्वरप्रणिधानस्य व्याख्या त्रिविधा कृता अस्ति – बौद्धिकः ईश्वरप्रणिधानः, वाचिकः ईश्वरप्रणिधानः, शारीरिकः ईश्वरप्रणिधानः च ।

बौद्धिक ईश्वरप्रणिधानः-

ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु उक्तं यत् 'महिमामयः ईश्वरः प्रत्येकस्मिन् कार्ये शान्तिं सुखं च ददाति सत्यनियमानुसरणं च सर्वैः पूज्यते' इति। यदा साधकस्य अन्तः दिव्यभावना जागरिता भवति तदा तस्मिन् समये उपासकः ईश्वरं ज्ञात्वा मनसा सह सङ्गतिं करोति । वेदानुसारं साधकः अनन्तशक्तियुक्तस्य हृदये अन्तः ईश्वरस्य आह्वानं कृत्वा शुद्धेन अन्तःकरणेन सोमस्वभावेन च आत्मानं समर्प्य सर्वथा ईश्वरं रक्षणार्थं प्रार्थयति।

वाचिकः ईश्वरप्रणिधानः-

ऋग्वेदे उक्तं यत् 'हे भगवन्, वाक्द्वारा स्तुतयोग्य ! अस्माकं शरीरं न विच्छिन्नं कर्तव्यं शत्रुपुरुषैः सर्वशक्तिमान् देव! त्वम् अस्मात् घातकान् अपसारयसि । उपासकः प्रार्थयति - अहो देव अग्निरूपेण ! वयं त्वां पूजकाः सर्वधारकाः बहुविधैः वचनैः स्तुवामः, नमस्कारैः च भजामः। हे प्राणानां आत्मा ! प्रकाशदेवः। पुरुषः यशः पूरयन्तु, अस्मान् प्रति प्रेम्णा दर्शयन्तु महता वैभवेन[५]। ऋग्वेदस्य मते ईश्वर-प्राणिधनद्वारा हृदये वर्तमानः ईश्वरः तेजसा, आत्मबुद्ध्या, वाक्योगेन च वर्धितः भवति ।

शारीरिकः ईश्वरप्राणिधानः–

श्रीमद्भगवद्गीतायाम् उक्तं यत् यः कर्मयोगी ईश्वरं प्रति आसक्तिं समर्प्य सर्वकर्म समर्पणभावनाम् आचरति, सः जले कमलपत्र इव पापेषु न प्रवर्तते। व्यासमुनिः ईश्वरपूजायाः वर्णनम् एवं कृतवान् - शयने आसने च उपविष्टः, मार्गे

चरन्, तादृशः साधकः यस्य संशयजालानि विलीनानि सन्ति, सः कामनाशकामना सह सततं चिन्तनं ध्यानं च कुर्यात् ध्यानस्य मध्ये ।

श्रीमद्भगवद्गीतायाम् तपः स्वाध्यायेइश्वरप्राणिधानानि-

श्रीमद्भगवद्गीता अस्माकं धर्मग्रन्थानां अतीव उज्ज्वलः शुद्धः हीरकः अस्ति। यः विश्वज्ञानसहितम् आध्यात्मिकज्ञानस्य पवित्रतथ्यं स्पष्टशब्दैः व्याख्यायते, यः तेषाम् एव सिद्धान्तानाम् आधारेण मनुष्यस्य प्रयत्नानाम् अर्थात् आध्यात्मिकसिद्धेः अवस्थां परिचयति, अनेन च शान्तिं ददाति लौकिकः,आहत-पुरुषं निःस्वार्थः कर्तव्यं कर्तुं च समर्थयति, अस्माकमृ आचरणे गीता-सदृशं प्रज्ञा-पुस्तकं कस्मिन् संस्कृति परम्परायां दृश्यते। सम्पूर्णे विश्वसाहित्ये अपि न लभ्यते । अस्मिन् आत्मज्ञानस्य अनेके गूढसिद्धान्ताः तादृशे प्रसिद्धे भाषायां गृहीताः यत् ते बालवृद्धयोः कृते अवगम्यमानाः सन्ति तथा च यस्मिन् रूपेण ज्ञानेन पूरितभक्तितत्त्वेन च तत् पूरितम् अस्ति श्रीकृष्णस्यैव वचनात् सम्पूर्णः वैदिकधर्मः संगृहीतः अस्ति। गीता योगात्मकं धार्मिकं च पुस्तकम् अस्ति। अस्मिन् वयं तपस्यां, स्वाध्ययनम्, ईश्वरभक्तिं च व्याख्यास्यामः।

तपः-

तपः दुःखं सहितुं, तीव्रसाधनं कर्तुं, मनसः नियन्त्रणं च इत्यादी इत्यर्थः । महर्षिदयानन्दस्य मते यथा सुवर्णस्य मलः अग्नौ क्षिप्य निष्कासितः भवति तथा एव अस्माकं हृदयस्य, मनसः, आत्मनः च मलस्य सद्गुणैः, सद्वृत्तिभिः च दूरीकरणं निश्चितम् । मुख्यतया गीतायां त्रयः प्रकाराः उल्लिखिताः सन्ति।

शारीरिकः - यद् शरीरेण सह क्रियते।

वाचिकः - यत् वाक्द्वारा कर्तव्यम्।

मानसिकः - यत् सर्वात्मना कर्तव्यम्।

देवः-गुरु-विद्वांसः-पूजनं तथा एतेषां जनानां क्षमतानुसारं सेवा - सद्-परिचर्या, ब्रह्मचर्यः, अहिंसा च शारीरिकतपः एव।

अधुना तपः त्रिविधः ईश्वरस्य, ब्राह्मणस्य, गुरुणां, ज्ञानिनः च पूजा इति उच्यते। ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च सर्वे शरीरसम्बद्धाः तपः उच्यन्ते । शरीरेण क्रियमाणाः अर्थात् यस्मिन् शरीरं मुख्यं भवति। कर्तृकृतानि सर्वाणि कार्याणि

कर्माणि च शरीरसम्बद्धानि तपः उच्यन्ते । देवः, ब्राह्मणः,-गुरुः,जीवन्मुक्त-महापुरुषाणाम् आराधना, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्यस्य अनुसरणं, हिंसा न करणं च एतत् शरीरसम्बद्धं तपः इति कथ्यते।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।

ब्रह्मचर्यस्य अर्थः शरीरस्य सारस्य आस्वादनं ब्रह्मणि निमग्नः भवितुं वा सर्वदा ईश्वरस्य अङ्के आत्मानम् अनुभवितुं वा। अहिंसा मनसा, वाक्, शरीरेण वा कस्यचित् हानिं न करोति। हिंसा अहिंसा च न केवलं शारीरिकं अपितु वाचिकं मानसिकं च भवति। वाग्तपः यथा कस्यचित् हानिं न करोति तथा वक्तुम् इत्यर्थः । सत्यं प्रेम्णः लाभप्रदं वाक्यं प्रयोक्तव्यम्। वाक्यस्य दृढतायाः सह स्वाध्यायस्य अपि उल्लेखः कृतः अस्ति ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

संदर्भग्रंथ

योगदर्शनम्, व्यासभाष्य- २/१
योगदर्शनम्- २/४५
योगदर्शनम्- १/२६
श्रीमद्भगवद्गीता- २/६७
श्रीमद्भगवद्गीता- ९/२७
व्यासभाष्य
योगसूत्रम्, भाष्यवृत्ति -२/१
ऋग्वेदभाष्यभूमिका उपासना विषय- पृ. २८५
यो.- २/५/१७
यो अध्वरेषु शंतम..... ऋग्वेदः - १/७७/२
वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्, ऋग्वेदः - १/२/१
मा नो मर्ता अभि द्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः ।
ईशानो यवया वधम्, ऋग्वेदः - १/५/१०
त्वामग्ने धर्णासिं विश्वधा....ऋग्वेदः - ५/८/४
अग्निं धृतेन वावृधुः.....ऋग्वेदः - ५/१४/६
इन्द्र विश्वा ..... ऋग्वेदः - १/११/१

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रि विधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।। गीता.- १७/१७
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। गीता.- १७/१८
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। गीता.- १७/१९

A comparative study of meditation in the Srimadbhagavad Gita and the Bible

Rev. Dr. R.R. Bhaskar,
M. Phil, D. Min. PhD.

Introduction:

Biblical meditation is about filling the mind with thoughts of God and with Scripture and being transformed into the character of Christ. Biblical meditation is about attachment instead of detachment. It is about attaching to God and being focused on his word. It is about becoming more loving toward God and others. While the Holy Spirit indwells the Christian and transforms them to be more like Jesus, there is always a distinction between the person and God.

Christian Meditation is a classical spiritual discipline that is rooted deeply in the Bible and in ancient Christian practice. The purpose of meditation is to empty the mind and merge with the universe; it is about losing a sense of self through emptying and detaching from the self, from others and from suffering.

Meditation on Srimadbhagwat geeta, our true nature is to be free from all sorrow and anxiety, in spite of the natural ups and downs of life. We have a wrong notion that our happiness is based on security and pleasure. We have another wrong notion that security and pleasure come from people, objects and situations. All spiritual practices are must be free us from these two wrong notions, and free us from the fundamental wrong notion about our limited individuality. Meditation is an important step in this process.

To be able to meditate effectively, it is important to have a meditation-conducive lifestyle. Without that, the mind would be thinking about all kinds of things and meditation will not be possible. After aligning the lifestyle, following the prescribed process makes meditation possible with some patient effort. The fruits are enormous to make everything worthwhile.

Bhagavad Gita deals with several aspects of meditation very elaborately, especially in the sixth chapter.

Srimadbhagavad Gita Concept of Meditation

Preparation of Meditation

We need to devote ourselfe to supreme authority and meditate upon Him and forgive the persons those who done wrong in our life. Thus, we need to fully forgive everyone, including ourselves, for everything in the past. What we do now decides the future. So, there is no need to be anxious about the future. We just need to do good things,

wish well to everyone, help everyone as much as possible, do our duty and work hard constructively. Everything will be fine. We don't need to worry (6.40). God knows every thought in our minds. He knows truly what is needed for our spiritual development and He is our true well-wisher. Everything happens by His will. By knowing this, we can place all our past, present and future in His hands and relax (5.29). By assimilating these deeply, we can become free from all grudges, regrets and anxiety. We can accept everything that happens as a gift from God and offer everything that we do as a gift to God.

Moderation in food, sleep, work, entertainment, etc. is needed. Too much eating, too less sleep, too much activity and too less entertainment will make us feel tired and sleepy when we sit for meditation. Too less eating, too much sleep, too less activity and too much entertainment will numb the mind and not let us focus on anything. There should be moderation in these (6.16,17). The right amount of these fluctuates from person to person. We need to decide the right amount for us based on what keeps us alert and focused during meditation. We should have a structure and discipline in life.

Process of Meditation

We should choose a place that provides some solitude (6.10). It should be a clean place free from any foul smell or stuffiness. The seat should be stable. It should not be too high. If the place is outdoors or where there can be some insects, it should not be too low, so that they can crawl under without disturbing us. The seat should not be too hard or too soft. It should be thermally insulated from the ground (6.11). We should sit straight with the body, neck and head in a vertical line, so that there is no tension in any muscle. It should be a relaxed posture. We should be able to completely forget the body in this posture. The eyes should be gently closed as if looking at the tip of the nose within the closed eyelids (6.13).

We should not give any attention to the sounds, smell, etc. that would still reach the sense organs. We should neither follow them nor resist them. We should gently let them be. We should not imagine any sense objects (6.12). We should suspend all our worldly agenda in life, our roles and responsibilities, desires and possessions (6.10). With the mind free from any grudge or regret about the past, free from any fear or anxiety about the future, free from seeking pleasure through the sense organs, we should think of God, who is our innermost Self, with a concentrated mind with God alone as the goal (6.14). The sense organs and the mind can be withdrawn from the sense objects by abandoning all hankering after the pleasure arising from them (6.24).

This has to be done gradually by reasoning with the intellect with patience and fortitude. The mind should be fixed on the Self within by not thinking of anything else (6.25). Whenever the mind is found to have wandered away due to its restlessness, we should bring it back to the Self (6.26). When the mind serenely rests on the Self alone, it is steady (6.18). It will become like a lamp that is kept in a windless place (6.19). We will become fully satisfied with resting in the Self (6.20). This will give an infinite bliss which is experienced by the mind, but without the involvement of any sense organ. When this bliss is tasted, the mind will not wander (6.21). No other enjoyment is greater than this. When this is obtained, even a great sorrow will not affect the mind (6.22). This state of freedom from sorrow can be attained by practicing with patience and perseverance (6.23).

Culmination

These will be obtained by practicing this meditation (6.27,28):=

1. peaceful mind – free from guilt, anxiety, fear, hatred, etc.
2. great bliss – tangible experience of happiness uncaused by any sense organ
3. free from passions – freedom from any dependency or expectation from people, objects or situations
4. infinite identity – freedom from limited identity based on body, mind, memory, actions, sense experiences, etc
5. taintless – freedom from biases, tendencies and attachment created by past, present and future actions

The Yogi will see that everything in the Universe exists within him and he pervades everything in the Universe. He will see everything with equanimity (6.29). He will see that it is God alone who is in all things and everything is pervaded by God. He will never be separated from God (6.30). Even in the midst of different life situations like cold-heat, pleasure-pain and honor-dishonor, the Yogi will not lose sight of the Supreme God (6.7). With his heart fully satisfied with knowledge, he is unshaken, his senses are conquered and he sees mud, stone and gold as equal (6.8). He sees a well-wisher, friend, foe, neutral, arbitrator, hateful, relative, virtuous and vice with equal eye (6.9). The Yogi who thus sees and worships God residing in all beings abides in God even through every walk of life (6.31). Such a Yogi considers himself in others' position regarding pleasure and pain, and behaves accordingly. Thus, empathy and compassion come naturally to him. He is the highest (6.32).

Meditation upon God

The verses in the sixth chapter talk about meditation on the pure Self in oneself, which is the same as God who is the Self of all living beings. The seventh to twelfth chapters talk about meditation upon God as the Supreme Being of this Universe.

Thinking about and meditating on the abstract unmanifest Self or unmanifest God is difficult for most people (12.5). So, a person can follow these disciplines (12.6):

1. Do everything as an offering to God in the form of the Universe. It is God alone who has become the world and all the living beings. Everything we do is an offering to God.
2. Do everything as a means to the goal of reaching God, not for worldly gains
3. Meditate upon God as the omniscient, omnipresent, omnipotent, compassionate Supreme Being
4. Don't think of anything else during meditation

If a person does this, God will give him the knowledge of the truth (that God is the innermost Self) and save him from the bondage of the world (12.7). As you can see, the first two points are a summary of the preparations and the last two points are a summary of the process, that was mentioned in the sixth chapter. God is the origin of all. Everything evolves, resides and subsides in God. With this idea, a person should lovingly worship God (10.8). Thus, being wholly thinking of God, fully absorbed in God, talking to each other about God, the devotees should be satisfied and delighted in God (10.9). To such people, who meditate upon God as the Supreme Being, out of compassion, He lights the luminous lamp of knowledge within to know God as the Self (10.10,11). The same process of meditation can be used to meditate upon God as the Supreme Being in this Universe. Meditation upon God is done by putting the feeling mind and the discriminating intellect both on God (12.8). If a person is not able to do meditation, he should practice chanting the name of God to develop the ability to meditate (12.9). If a person is not able to do that also, he should practice ritualistic worship to develop the ability to meditate (12.10). If a person is not able to do that also, he should offer all worldly actions to God. This will prepare him for meditation (12.11).

Thus, Gita gives two ways of considering God as an object of worship – (1) considering God as the Supreme Person, the devotee sings the glories of God, goes through various austerities, bows down to God, always thinks of Him and worships through devoted offering of

leaf, flower, fruit, water, etc. (9.14, 9.26) and (2) knowing that God alone has become or appears as this Universe, offers every action done like contribution, consumption, service, charity, austerities, etc. to God (9.15, 9.27). Whoever worships God through any name and form through any ritual with faith, God responds to the person through the same name and form to deepen the faith (7.21). If a person worships or works seeking this worldly or other worldly gains, he gets them. But these gains are not permanent. The person will be back to square one when the gain is exhausted (9.20,21). If a person worships or works seeking God Himself, he gets everything needed for this world and also gets God (9.22). Both these are given by God only. He is the only object of all worship and the bestower of the results of all work (9.23,24). So, the devotee should meditate upon God, become His devotee, do all actions for God and bow down to God, having God alone as the goal. He will reach the goal. (9.34).

When such a person follows the process of meditation described, he will be able to succeed with comfort. By following these two disciplines of detachment and practice, a person can succeed in meditation (6.35,36). He who strives by putting in effort will become purified and will progressively become perfect, building on his progress birth after birth, without losing what was gained before (6.44,45). A person on the path of meditation is better than ascetics who perform hard physical austerities, those who do rituals or social service (6.46). The person who has attained perfection will not be attached to actions and sense objects. When he stops seeking outside for security and pleasure, he will be free from all worldly ambitions (6.4). Such a person who meditates upon God within himself with faith and devotion is the best among Yogis. God will bless him with the supreme knowledge of the truth (6.47).

- "Engage your mind always in thinking of Me..." (9.34)
- "With mind thus fixed, one achieves the peace of My presence..." (2.56)

Biblical Concept of Meditation

There is no secret formula or posture to make God like you more. Meditation is not about gaining favor with God or following a specific formula. Christian meditation is merely spending time with our Creator and acknowledging his presence in our existence, surrendering our perspectives, time and priorities to him. If you don’t know where to begin, Scripture is an excellent place to start. Here are a few verses that can be read and repeated. Read them over, ponder each phrase and allow them to begin to saturate your soul. You may find that after

repeating it six or seven times, unforeseen enlightenment begins to spark in your heart.

1. Prayer and supplication (Philippians 4:6)
2. Meditation on Scripture (Psalm 1:2-3)
3. Seeking God's presence (Psalm 46:10)

- My commitment to God (Psalm 19:14)-My assurance of God (Psalm 46:10)
- My position before God (Psalm 63:1)-My practice serving God (Psalm 34)
- My vulnerability to God (Psalm 139:23, 24)-My priorities before God (Colossians 3:12-14)
- My surrender to God (Galatians 2:20)-My rescue through God (Matthew 11:28, 29)
- My hope in God (John 16:33)-

4. Contemplation and reflection (2 Corinthians 3:18)

- "Meditate on these things; give yourself entirely to them..." (1 Timothy 4:15)

- "This Book of the Law shall not depart from your mouth..." (Joshua 1:8)

Meditation in the Old Testament

The Old Testament calls people to meditate on God's attributes and actions and to meditate on Scripture. Psalm 145 is a poem that describes God's character and his works, and the writer declares that he will meditate on these, reflective about them and then telling others about them. This is an example for all Christians. Meditating on who God is, what he has done and what he continues to do will shape someone's thoughts, character and actions.

Both Psalm 1 and Psalm 119 call people to meditate on Scripture. Psalm 1 explains that when believers meditate on God's Word, they will be blessed with flourishing just like a tree flourish if it is planted by continuously running water and nourished by a constant source of life. Regularly meditating on the Bible will nourish the soul. Psalm 119 explains that when people meditate on Scripture, they will be able to resist sin and live wisely, another indicator of human flourishing.

Meditation in the New Testament

The New Testament also includes a variety of passages that call the follower of Christ to focus the mind (i.e., meditate) on God. Some of these passages are Philippians 4:4-9, Colossians 3:1-3, Romans 8:5-7, Hebrews 3:1 and Hebrews 12:2. These passages tell the Christian to think about things that will turn their minds to God and his plans for them. As they do this, they will become people whose thoughts, emotions, and will align with God's purposes.

These passages encourage the follower to fix their eyes on Jesus so they will be filled with hope and be able to emulate him. Again and again, the writers of these New Testament passages show that a person's thoughts determine who they will become. Thus, thinking about God, his word, and his ways through meditation is a critical spiritual discipline for followers of Jesus.

Benefits of Meditation

As individuals meditate on God and on Scripture, their character changes. They become filled with the fruit of the Spirit — love, joy, peace, patience, kindness, goodness, faithfulness, gentleness and self-control (Galatians 5:22-23). As a result, they are more patient and content. They are less anxious and more peaceful. They are more able to love, serve and give joyfully. The practice of Christian meditation grows the believer deeper in his or her relationship with God, which in turn, results in more loving outward action toward others. Christian meditation is not only about self-care. It is about "others-care" because a deeper relationship with God will always result in loving action outward toward others.

As Christians, place is not as big of a priority as practice. You may have some profound meditative experiences while lost in a crowd; just be with Jesus. Start small and ask the Holy Spirit to help you understand the verses being read and how best to invest this time. Take a few deep breaths. When your mind wanders (as it will), do not beat yourself up; just gently return to the Scripture and continue meditating on the passage. This is a time of focus. Within this time, you may find that as you meditate you sense a need to send an email of encouragement or make a phone call to apologize for your behavior. Do these things so your meditation will be open, honest, meaningful and a sweet offering of ourselves resting in our Lord.

Meditate on the value of this spiritual discipline and give it a try!

"May my meditation be pleasing to him, as I rejoice in the Lord." - Psalm 104:34

Did Jesus Meditate?

There's lots of evidence suggesting that Jesus was, at a minimum, familiar with meditation, and much more likely, even practiced himself.

For starters, the Torah mentions that, while growing up in Jerusalem, Jesus spent time around meditators. Later on, as a Jewish Rabbi, he would have fully understood the purpose of Isaac meditating in the fields.

And there is good evidence suggesting that Jesus did indeed meditate. For instance, it's believed by many scholars that Jesus's Sermon on the Mount was delivered from a meditative state. While Jesus is known for spending 40 days and 40 nights "praying and fasting" in the desert, the specifics of his "prayer and fasting" technique are not clearly defined. Some scholars believe that many of those days and nights in the desert were actually spent in meditation, rather than prayer alone. While prayer is the act of "talking to God", meditation is the act of "listening to God," which more closely mirrors what occurred during those history changing 40 days and 40 nights.

In the end, when you add the numerous Biblical mentions of meditation to the mounting evidence that Jesus may have actually been a well-practiced meditator, it becomes clear and obvious that meditation is a truly wonderful thing for all Christians.

Comparative Analysis

1. Both texts recognize meditation as essential for spiritual growth.
2. Srimadbhagavad Gita emphasizes individual effort, while the Bible emphasizes reliance on God's grace.
3. Hindu meditation tends to focus on the inner self, whereas Christian meditation focuses on God's Word and presence.

enefits

1. Reduced stress and anxiety
2. Increased self-awareness and clarity
3. Deepened spiritual connection and understanding
4. Improved mental discipline and focus

Practical Applications

1. Regular meditation practice
2. Scripture reflection and study
3. Mindfulness and contemplation
4. Seeking guidance from spiritual leaders or mentors

Similarities Between Both Scriptures

1. Emphasis on inner reflection: Both texts encourage introspection and self-awareness through meditation.

2. Connection with the divine: Meditation is seen as a means to connect with God or the ultimate reality.

3. Mindfulness and focus: Both traditions emphasize the importance of concentration and mental discipline.

4. Spiritual growth: Meditation is considered essential for spiritual development and self-realization.

Differences

1. Focus: Bhagavad Gita focuses on realizing one's true nature (Atman) and union with Brahman, while the Bible emphasizes relationship with God through prayer and devotion.

2. Techniques: Hindu meditation often involves mantra repetition, yoga, and visualization, whereas Christian meditation may involve prayer, contemplation, and scripture reflection.

3. Goals: Bhagavad Gita aims at achieving Moksha (liberation), while the Bible seeks to deepen faith, obedience, and intimacy with God.

Srimadbhagavad Gita

- "Engage your mind always in thinking of Me, become My devotee, offer obeisances to Me and worship Me." (9.34)

- "With mind thus fixed, one achieves the peace of My presence." (2.56)

Bible

- "Meditate on these things; give yourself entirely to them, that your progress may be evident to all." (1 Timothy 4:15)

- "This Book of the Law shall not depart from your mouth, but you shall meditate in it day and night." (Joshua 1:8)

Conclusion:

Meditation, as explored in the Srimadbhagwatgita and the Bible, offers powerful tools for spiritual growth, self-discovery, and divine connection. Embracing these principles can enrich one’s spiritual journey, fostering greater understanding, peace and harmony. This comparative study highlights the shared importance of meditation in both Hindu and Christian traditions, while acknowledging distinct approaches and goals.

Resources:

1. Bhagavad Gita commentaries by Adi Shankara or Ramanuja

2. Biblical commentaries by Matthew Henry or John MacArthur

3. Meditation guides by Swami Vivekananda or St. Ignatius of Loyola

4. Interfaith dialogue and comparative studies.

The Characteristics of Devotees and Path of Devotion in Srimad Bhagavad Gita

Mrs. M. SIVAPRIYA
Assistant Professor
Department of Sanskrit Bishop Heber College
Tiuchirappalli

Keywords: Bhagavad Gita, Devotee, Devotion, religion, qualities, Bhakthiyoga, Supreme Lord.

Abstract

The Bhagavad Gita was spoken by Sri Krishna to his devotee Sri Arjuna, in Mahabharatha on the Battlefield of Kurukshetra. Bhagavadgita stands as the supreme literature as these principles of religion were enunciated by God Himself. It is most relevant to all people. So the Gita includes religion, philosophy, motivation, management, leadership, communication skills etc., But in this paper I argue that on the the characterstics of devotee path of Bhakthi one will automatically develop all saintly qualities. However, if one also consciously strives to develop the saintly qualities of a devotee, this will speed up spiritual advancement.

Introduction

The lord says, "Such a perfect, Devoted Yogi is dear to me" and the truth expressed in the Sloka earlier, "I am very dear to the Man-to-Wisdom, and he is dear to me"(VII-17). Therefore, the devotee, who knows this most confidential knowledge, performs the greatest act of love. Arjuna asks about the best way to reach the supreme on the battlefield, then the Supreme Lord says. A true devotee is one who will sacrifice, accept, and surrender. Finally, Sri Krishna asks Arjuna to give up all doubts and surrender his intellect with his mind fixed on loving devotion. Also, Krishna says in Shloka, Arjuna, Surrender unto him utterly. By his grace you will attain transcendental peace and the Supreme and eternal abode.

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शस्वतम् ।।

भगवद्गीता (18-62)

Type of Bhakta

The greatness of the devotee is highlighted in every devotional literature in Sanskrit. In the Bhagavad Gita, Lord Krishna says about four types of people who seek the divine.

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थीं ज्ञानी च भारतर्षभ ।।

भगवद्गीता (7.16)

Meaning: O! Arjuna, Four kinds of people who have done virtuous deeds worship Me, Arta(Distressed devotee- Draupathi, Gajendra etc.,) Jijnasu(Aspirant seeking knowledge – The emquier Uddava) Artharthi(The seeker of wealth - Vibheeshana) Jnani(The man of Knowledge who has attained Self illumination – Suka Mahafishi, Parikshit etc.,)

Then we are also known as Bhaktha in Srimad Bhagavatha Puranam, 7th Canto. The ways to reach the Supreme Lord have been explained in detail. Due to pure devotion, Narada and many more devotees could attain Him through Nine forms of Bhakthi which is explained in the Shloka given below:

श्रवणंकीर्तनंविष्णोःस्मरणंपादसेवनम् ।
अर्चनंवन्दनंदास्यंसख्यंआत्मनिवेदनम् ॥
इतिपुंसार्पिताविष्णौभक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियतेभगवत्यक्तातन्मन्येऽधीतंउत्तमम् ॥

श्रीम.भा 7.5.23

Meaning: Shravanam(Listening to ancient texts) One needs to constantly listen to the glories of God, which was evident with King Parikshit. Keerthanam(Praying) Suka Brahma extolled Bhagavan through the famous puranam Srimad Bhagavatam. Smaranam(remembering teaching in ancient texts) Prahalada showed this type of Bhakthi by constantly thinking about Sriman Narayana to the extent that nothing seemed to affect Him happening in this world. Paadasevanam(Service to the feet) Sri Mahalakshmi continuously renders this type of Bhakthi. Archanam(Worshiping) King Pruthu, hailing from Dhruva lineage, followed this type of Bhakthi. Vandanam(owing to the divine) Akroora offered his respects and was a devotee of this genre. Dasya(Service to the devine) Anjaneya exhibited servitude towards Sri Rama. Sakhyam(Friendship with the divine) Arjuna showed his Bhakthi considering Lord Krishna as his friend. Atmanivedanam(Self surrender to the divine), King Mahabali offered everything to the Lord and showed His Bakthi through this form.

Hence, if any one type of such devotion is exhibited towards the Almighty, it is easy to attain Him.

Type of qualities of Devotee

The 12th chapter Bhakthi Yoga also called Bhakthi Marga of Bhagawad Gita describes all the wonderful qualities of God's loving devotees, and who are very dear to the supreme lord. In this chapter, all verses are very important and beautifully presented by Lord Sri Krishna about characteristics of Bhakta or a devotee. And in the chapter, it sets about to determine which of the viz, the worship of the Impersonal or that of the Personal, is superior. So, The Blessed Lord said

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्यायुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता: ।।

भगवद्गीता (12.2)

Those who worship me fix their minds on me and always engage in my devotion with steadfast faith. I regard them to be the best yogins.

In this Bhakthi Yoga, all the verses are explained about the method of attaining God through love and the loving recollection of God. The Bhakthas attain this through the force of love, that most powerful and irresistible of emotions.

य: सर्वभूतानां अद्वेष्ट: , मैत्र: , करुण: , निर्मम: , निरहङ्कार: , समदु:खसुख: , क्षमी ,योगी , सततं सन्तुष्ट: , यतात्मा , दृढनिश्चय: , मयिमनबुद्धि: , लोको च लोकान्नोद्विजते , लोकात् न लोकान्नोद्विजते , हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्त: , अनपेक्ष: , शुचि: , दक्ष: , उदासीन: , गतव्यथ: , सर्वारम्भपरित्यागी , न हृष्यति , न द्वेष्टि , न शोचति , काङ्क्षति , शुभाशुभपरित्यागी , सम: शत्रौ च मित्रे च मानापनयो: , सम: शोतोष्णसुखदु:खेषु , सङ्गविवर्जित: , तुल्यनिन्दास्तुति: , मौनि: , सन्तुषुट: येन केनचित् , अनिकेत: , स्थिरमति: , भक्तिमान् स: मे भक्त: मे प्रिय: ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया: ।।

भगवद्गीता (12.13 – 12.20)

So the lord Krishna tells in these verses to point out the qualities of devotees and with Me as their supreme goal, are extremely dear to Me. The way of the Unman fest is difficult attained with many obstacles. Hence, the wise man should take the easier and more noble path of devotion to the Lotus feet of Sri Krishna.

The path of devotion

A true devotee is one who, as the world suggests, is devoted and one who will sacrifice and surrender. Therefore, devotion has more to do with another human being, although it is sometimes used in the context of people. Lord Krishna identifies the characteristics and features of a man of perfection, and a man of way of life for all seekers.

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सदुर्लभः ।।

भगवद्गीता (7.19)

Krishna explains that after many lifetimes of spiritual practice, a wise person recognizes him as the ultimate reality and surrenders to him. This realization is rare and signifies the culmination of true knowledge. The growth of love knowledge can be likened to discovering the true value of a precious item. True words and genuine knowledge of God deepens one's devotion. And

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।।

भगवद्गीता (13.9)

Krishna says, however, if you are not able to fix the mind on me in such a way that it becomes steady, then strive to attain me, through the yoga of practice which consists in remembering overall the glory of devotion to the God also different forms of spiritual disciplines and discusses the qualities of the devotees who by performing their activities in this way become very dear to supreme Lord.

Conclusion

The Bhagavad Gita always leads human life and Devotion is not some mysterious gift that one can get. It requires consistent efforts to cultivate it. So keep faith in God in ourselves and our life in the best way. We find that, based on one's Karma (Punyam and Papam) along with desire and anger, differences arise among men due to which people possessing divine qualities are hurt and harmed by the wicked, the Supreme Lord as told about how one can practice a Bhakthi from whatever level is at.

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य त्स्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।

भगवद्गीता (7.21)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।

भगवद्गीता (18.56)

" Whatever form a particular devotee seeks to worship with faith, I steady the faith of such a devotee in that form and Though encaged in all kinds of activities, My pure devotee, under My protection, reaches the eternal and imperishable abode by my grace." Finally, my topic is how the Lord bonds Himself with His devotees just to keep up His devotees' words and manifest their intensity of Bhakthi by becoming subservient towards them.

References:

- Srimad Bhagavad Gita, Sridhara swami, SriRamakrishna Math, Madras-4
- Srimad Bhagavad Gita, SriJeyathayaal Goyanthaka, Gita Press –Korakpur – 273005
- https://en.wikipedia.org/wiki/Bhagavad_Gita
- "What Is Bhakti Yoga". Retrieved 17 September 2018
- https://www.bhagavad-gita.org/
- https://www.ekhartyoga.com/articles/philosophy/the-bhagavad-gita
- https://www.britannica.com/topic/Bhagavadgita
- https://www.bhagavad-gita-as-it-is.org/articles
- https://www.bhagavad-gita-as-it-is.org/articles

श्रीमद्भगवद्गीतायां तथा भागवतदर्शने च योगस्य तथा ध्यानस्य विमर्शः

Dr. S. Narasimhan
Asst Professor in Sanskrit
DDGD Vaishnav College, Chennai
Tamilnadu 600 106
Email : narasimhans@dgvaishnavcollege.edu.in
Mob : 8778798755

ब्रह्मणः सृष्टिविशेषे मनुष्यजन्मनः वैशिष्ट्यमनितरसाधारणेव । चेतनाः इति ज्ञातेभ्यः बुद्धिविशेषादितरप्राणिभ्यः चिन्तनाशक्त्या भिन्नेभ्यः अस्मभ्यमेव चतुर्विधपुरुषार्थाः विहितास्सन्ति यस्यावगमनेन, आचरणेन च जीवनं सफलं भवति। **"ज्ञानान्मोक्षः"** इति वचनानुगुणं ज्ञानात् तुरीयफलत्वेन विहितस्य मोक्षस्य प्राप्तिः कथं शक्यत इति बोधयितुम् अनेकानि सोपानानि सन्ति वेदपुराणशास्त्रेषु महतां वचत्सु च । वेदाः, पुराणानि, उपनिषदः, इतिहासद्वयं, श्रीमद्भगवद्गीता इत्यनेके दर्शनग्रन्थाः ज्ञानयोगस्य समाचरणार्थं नानाप्रकाराणि कर्म-ज्ञान-भक्तियोगसाधनानि समुपदिशन् । एतेषु श्रीमद्भगवद्गीतायाः भागवतदर्शनस्य च स्थानं विशेषतमं परिगण्यते सर्वैः महापुरुषैः तत्त्वविद्भिश्च। प्रस्थानत्रये अन्तर्भूताऽस्ति श्रीमद्भगवद्गीता या श्रीकृष्णेन अर्जुनाय कुरुक्षेत्रे युद्धसमये सूपदिष्टा । एवं वेदोपनिषत्सारत्वेन परिगण्यते च भागवतदर्शनं यच्च परीक्षिन्महाराजेन स्वमृत्युसन्दर्भे शुकब्रह्मणः मुखात् सम्प्राप्तम् । एवमुभयमपि असाधारणसन्दर्भे एव आचार्यमुखात् शिष्याय बहिरागतं प्रश्नोत्तरप्रणाल्या संवादरूपेण, यस्य लाभः अन्यैरपि भुज्यते आत्मलाभाय इदानीमपि। आभ्यां सन्दर्शितेषु ज्ञानमार्गेषु अष्टाङ्गयोगस्य स्थानमतीव विशिष्टतममस्ति, यस्य आलम्बनेन लौकिकजीवनमपि सुखं यापयितुं शक्यते इत्यस्ति विशेषः तेषाम् । समग्रभारते तथा विश्वे च य़ोगस्य प्रचारः तथा प्राबल्यं, तद्विषये भारतस्य महत् योगदानं च कथमस्तीति अस्माभिः सर्वैः सुविदितमेव । लौकिकजीवने तथा साधानानुष्ठानकाले च कर्मेन्द्रियाणां तथा चित्तादिज्ञानेन्द्रियाणां संरक्षणं तथा सम्यग्निर्वहणं च सर्वदा अत्यावश्यकमेव । एतदर्थं महदुपकरोति अष्टाङ्गयोगः ।

बहिरङ्ग-अन्तरङ्गयोगनाम्ना ज्ञातस्य योगमार्गस्य स्वरूपं, लक्षणं, आचरणविधिः, आचरणसन्दर्भे च साधकस्य कर्तव्यानि तथा अकर्तव्यादीनि, आहारनियमाः इत्येतादयः मुख्यांशाः गीतायां तथा भागवते च भगवतः मुखात् साक्षादुपदेशत्वेन तथा संवादरूपेण च अनेकप्रसङ्गेषु सम्यक् निर्दिष्टास्सन्ति। **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया** – इति

गीतोपदेशानुगुणं व्यासाचार्यः गीतायां एवं स्वरचितभागवतदर्शने च कृष्णार्जुनसंवादे, शुकपरीक्षित्संवादे, कपिलाचार्य-देवहूतिसंवादादिषु च श्रद्धालुना मुमुक्षुणा पृष्टाणां प्रश्नानां उत्तरप्रदानम् अनेकान् योगरहस्यान् बहिरानीय अस्मादृशानामपि मनसः विनिष्पन्नान् नानाविधसन्देहांश्च दूरीकरोति, विशेषतः योगसाधकानां मनसः इतीदमेव वैशिष्ट्यम् उभयोः स्वरूपविषये ।

मन्मना भव मद्भक्तः मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवम् आत्मानं मत्परायणः ॥

इति भगवता गीतायाम् उक्तप्रकारेण कलियुगेऽस्मिन् अन्यसाधनापेक्षया भक्तियोगेनैन भगवान् श्रीमन्नारायणः आश्रयितुं शक्यः इति भक्तियोगस्य वैशिष्ट्यं अस्मभ्यं बोधयितुं श्रीमद्भागवतस्य तृतीयस्कन्धे सप्तविंशाध्याये आरम्भे सांख्ययोगविषयान् यमनियमादिभिः सह सम्यक् संबोध्य, अष्टाविंशाध्याये "**योगस्य लक्षणं वक्ष्ये**" इत्यारभ्य विशेषतः अन्तरङ्गयोगस्य स्वरूपं, तस्य अभ्यासविधिः इत्यादयः क्रमशः स्पष्टं निरूप्यन्ते भगवता स्वयमेव स्ववाण्या। तस्मिन्नेव अध्याये अष्टाङ्गयोगाङ्गभूतस्य सगुणब्रह्मोपासनरूपस्य ईश्वरविषयक-ध्यानस्य "**सञ्चिन्तयेत् भगवतश्चरणारविन्दं "** इत्यारभ्य विष्णोः पादादिकेशस्वरूपं हृदि कथं ध्यायेदिति ध्यानाभ्यासस्य क्रमं सम्यक् बोधयति । एतदेव भगवद्गीतायां ध्यानयोग नाम्नि "**योगी युञ्जीत सततं"** षष्ठाध्याये भगवता कृष्णेनैव स्ववचसा योगिना आश्रयितव्यानां नियमानां मार्गदर्शनं करोतीत्येव विशेषः। अत्र गीतायां, भागवतदर्शने इति ग्रन्थद्वयेऽपि अन्नमय-प्राणमय-मनोमय - विज्ञानमय – आनन्दमयकोशादीनां ज्ञानं, आहारादिभिः तेषां सम्यक् निर्वहणं, योगाभ्यासार्थं तेषां उपयोगप्रकारः इति सर्वमपि क्रमशः बोधितमस्ति ।

गीतायाम् अन्ते अष्टादशतमे मोक्षसन्न्यासयोगे अध्याये शरणागतिशास्त्रस्य निरूपणं यत्कृतं भगवता व्यासाचार्येण, तच्च श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे वर्णिते

भागवतस्य ध्रुवस्य चरितवर्णनसन्दर्भे षष्ठस्कन्धे अजामिलोपाख्याने, सप्तमस्कन्धे वर्णिते प्रह्लादचरिते, अष्टमस्कन्धे वर्णिते गजेन्द्रोपाख्याने ईश्वरप्रणिधानविषयभूतः शरणागतिधर्मस्य प्रसङ्गः साङ्गोपाङ्गं सोदाहरणं निरूपितं, यस्य अवगमनेन अवलम्बनेन च जीवः मुक्तिं निश्चयेन प्राप्नुयात् । इत्थं अष्टाङ्गयोगस्य तदन्तर्भूतय्स ध्यानाभ्यासस्य अवगमनविषये च भगवता व्यासाचार्येण महाभारते सन्दर्शिता श्रीमद्भगवद्गीता तथा तेन स्वयं प्रदत्तं भागवतदर्शनं च महदुपुकुरुतः, अस्मान् ज्ञानमार्गे नेतुम् ।

श्रीमद्भगवद्गीता सांख्य तत्त्व

शोध पत्र प्रस्तोता -चेतन पुरी
शोधार्थी - संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन विभाग
वनस्थली विद्यापीठ , निवाई (राज.)
E Mail Add- chetanpuri90@gmail.com
Mob. No. 9413669680

श्रीमद्भगवद्गीता कुरुक्षेत्र के युद्ध मैदान में अर्जुन के युद्ध त्याग न करने के लिए श्री कृष्ण द्वारा दिए गए उपदेशों का संग्रह है। यह केवल हिंदू धर्म से संबंधित ग्रंथ नहीं होकर संपूर्ण विश्व के लिए कल्याणकारी ग्रंथ है। गीता में परंपराओं और रूढ़ियों का समावेश नहीं होने के कारण से अधिक प्रसिद्ध है। संपूर्ण श्रीमद्गीता का सार द्वितीय अध्याय में संक्षिप्त करने का प्रयास किया गया है क्योंकि इसमें अर्जुन विषाद योग, सांख्य योग, कर्म योग, सन्यास योग, ज्ञान विज्ञान योग, भक्ति योग, पुरुषोत्तम योग का संक्षिप्त विवरण मिलता है।

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रों का सार है इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता का भारतीय साहित्य में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद्भगवद्गीता 18 अध्यायों में विभक्त है, जिसमें द्वितीय अध्याय सांख्ययोग है। संख्या शब्द मे अण् प्रत्यय युक्त सांख्य दो मूल शब्दों से बना है - सम् जिसका अर्थ है "पूर्ण", और ख्या , जिसका अर्थ है "जानना।" तो सांख्य का अर्थ है "किसी चीज़ का संपूर्ण विश्लेषणात्मक ज्ञान।" कुरुक्षेत्र के युद्ध मैदान में अर्जुन को कृपण स्थिति में रोता देख भगवान श्री कृष्ण ने क्लैब्य और हृदय की क्षुद्र दुर्बलता के निवारणार्थ अर्जुन की समस्त युक्तियों को प्रज्ञा वाद का मिथ्या रूप कहा। श्री कृष्ण ने कहा कि प्रज्ञा दर्शन काल , कर्म और स्वभाव से होने वाली सभी स्थितियों को अनिवार्यत: स्वीकार करता है। पर्यायवाद की कालचक्र गति जीवन-मरण , सुख-दुख , शीत-उष्ण आदि स्थितियों को लाती है और ले जाती है। यह जान लेने पर भी - हे अर्जुन इस प्रकार के मोह में क्यों पड़ गया है। क्योंकि काल का परिवर्तन या परिणाम, जीव की नित्यता, देह की अनित्यता, स्वधर्म और कर्म को ही सांख्य बुद्धि कहा है।

श्री कृष्ण द्वारा बाह्य इंद्रियों की अपेक्षा मन के संयम की व्याख्या की है कि काम, क्रोध, राग, भय, द्वेष द्वारा मन का संयम बिखर जाता है और इंद्रियां वश में नहीं रहती इसीलिए जितेंद्रिय ही सबसे बड़ी आत्मजय है। यह आत्मतत्व तो

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः [2] ।।

यह आत्मतत्व न कटने वाला, न जलने वाला, न गलने वाला और न सूखने वाला है। आपस में एक दूसरे का नाश कर देनेवाले पञ्चभूत इस आत्मा का नाश करने के लिये समर्थ नहीं है। इसलिये यह नित्य है। नित्य होने से सर्वगत है। सर्वव्यापी होने से स्थाणु है अर्थात् स्थाणु (ठूँठ) की भाँति स्थिर है। स्थिर होने से यह आत्मा अचल है और इसीलिये सनातन है अर्थात् किसी कारण से नया उत्पन्न नहीं हुआ है, पुराना है। आत्मा शाश्वत है, सनातन है, इसे जानकर तत्वदर्शी बनो। यह आत्मतत्व पुराने शरीर को त्यागकर नए शरीर को धारण करता है।

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही [3] ।।

कि जिस तरह मनुष्य पुराने कपड़े त्यागकर नए कपड़े पहनता है, उसी तरह आत्मा भी पुराने शरीर को त्यागकर नए शरीर को धारण करती है. इस श्लोक से यह भी पता चलता है कि आत्मा को छोड़कर बाकी सब कुछ बदल जाता है, ठीक वैसे ही जैसे हम कपड़े बदलते हैं.

श्री कृष्ण ने अर्जुन को सांख्य का दूसरा रूप समझाया है, जो अमर आत्मा का विश्लेषणात्मक ज्ञान है कि वे बिना किसी फल की इच्छा के काम करने का विज्ञान बताने जा रहे हैं। इसके लिए कर्म के फलों से वैराग्य की आवश्यकता होती है। ऐसी वैराग्य बुद्धि के साथ विवेक का अभ्यास करने से आती है। इसलिए, श्री कृष्ण ने इसे "बुद्धि का योग" कहा है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्म बंधं प्रहास्यसि [4] ।।

अब तक मैंने तुम्हें सांख्य योग या आत्मा की प्रकृति के बारे में विश्लेषणात्मक ज्ञान समझाया है। अब हे पार्थ, मैं तुम्हें बुद्धि योग या सांख्य बुद्धि योग बताता हूँ। जब तुम ऐसी समझ के साथ काम करोगे, तो तुम कर्म के बंधन से मुक्त हो जाओगे।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति [5]।।

जिस मुनष्य ने अपनी सभी भौतिक इच्छाओं का परित्याग कर दिया हो और इन्द्रिय तृप्ति की लालसा, स्वामित्व के भाव और अंहकार से रहित हो गया हो, वह पूर्ण शांति प्राप्त कर सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता सांख्य तत्त्व

शोध सारांश - श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रों का सार है इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता का भारतीय साहित्य में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद्भगवद्गीता 18 अध्यायों में विभक्त है जिसमें द्वितीय अध्याय सांख्ययोग है। संख्या शब्द मे अण् प्रत्यय युक्त सांख्य दो मूल शब्दों से बना है - सम् जिसका अर्थ है "पूर्ण", और ख्या , जिसका अर्थ है "जानना।" तो सांख्य का अर्थ है "किसी चीज़ का संपूर्ण विश्लेषणात्मक ज्ञान।" इस अध्याय में शरणागत अर्जुन द्वारा युद्ध से मना करने पर उसकी शोक निवृत्ति के एकांतिक उपाय बताते हुए श्रीकृष्ण आत्मतत्व के विश्लेषणात्मक उपदेश में संसार की वास्तविक सच्चाई, देह और आत्मा के यथार्थ संबंध को बताते हैं। इसी अध्याय में आत्मतत्व को अज, नित्य, शाश्वत, पुराण बताते हुए इसी अविनाशी कहा है और यह किसी भी काल में ना उत्पन्न होता है, न हीं मरता है। यह नित्य, अव्यय स्वरूप है। **अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च**[1] अर्थात् यह आत्मतत्व अच्छेद्य, अदाह्य , अक्लेद्य, अशोष्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य, अवध्य और भाव स्वरूप है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग करके दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही यह आत्म तत्व इस शरीर में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था को प्राप्त होकर अन्य नए शरीर की प्राप्ति करता है। श्रीकृष्ण ने सांख्य योग या आत्मा की प्रकृति के बारे में विश्लेषणात्मक ज्ञान समझाया है। कहा कि हे पार्थ, मैं तुम्हें बुद्धि योग बताता हूँ। जब तुम ऐसी समझ के साथ काम करोगे, तो तुम कर्म के बंधन से मुक्त हो जाओगे।

संदर्भ अनुक्रमणिका :-

1. श्रीमद्भगवद्गीता 2.24
2. श्रीमद्भगवद्गीता 2.24
3. श्रीमद्भगवद्गीता 2.22
4. श्रीमद्भगवद्गीता 2.39
5. श्रीमद्भगवद्गीता 2.71

संदर्भ ग्रंथ :-

1. श्रीमद्भगवद्गीता - गीताप्रेस गोरखपुर
2. श्रीमद्भगवद्गीता व्याख्या - डॉ. अखिलेश कुमार

श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमद्भागवतपुराणे च प्रतिपादितं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम्

प्रशान्त शर्मा
विद्यावारिधि तृतीयवर्षम्(अद्वैत वेदान्त)
श्री लालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रीयसंस्कृत विश्वविद्यालयः
नवदेहली

श्रीमद्भगवद्गीताख्यः आध्यात्मिको ग्रन्थः भारतीयसंस्कृतेः दर्पणो अस्ति। मोक्षप्रदायिनी जीवनपथप्रदर्शिका च इयं श्रीमद्भगवद्गीता। अस्य विशेषार्थो वर्तते

श्रीमत्- शोभासम्पन्नः।
भग- (ऐश्वर्यः, धर्मः, यशः, श्रीः, ज्ञानम्, वैराग्यम्)।
भगवान्- उपर्युक्तषड्गयुक्तः।
गीता- गै धातोः क्त टाप्- गीता।

यद्यपि संस्कृतकाव्यानां अभिधानं नपुंसकेव विद्यते। यथा- रामायणम्, महाभारतादीनि। तद्वेवत्रापि श्रीमद्भगवद्गीतम् इत्येव स्यात् किमर्थं भगवद्गीता इति चेदुपनिषदां विशेषणत्वेनायं शब्दः उपनिषद् स्त्रीलिङ्गे विद्यते अतः श्रीमद्भगवद्गीता इति।

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारतस्य भीष्मपर्वणि पञ्चविंशत्यध्यायादारभ्य द्विचत्वारिंशदध्यायं यावद् विद्यते। भगवद्गीतायाः स्थानं प्रस्थानत्रय्यां विद्यते। गीतायाः वक्ता स्वयं श्रीकृष्णः वर्तते। गीतायाः श्रोतृरूपेण कृष्णस्य सखा अर्जुनो अस्ति, सङ्कलनकर्ता तथा गीताशास्त्रस्य ऋषिः वेदव्यासः। गीताशास्त्रस्य लेखकः प्रथमः विघ्नविनाशकः, बुद्धिप्रदायकः, श्रीगणेशश्च वर्तते। भगवद्गीतायाः गायनं मार्गशीर्षशुक्लैकादश्यामभूत्। श्रीमद्भगवद्गीतायाः छन्दः अनुष्टुप् (प्रधानत्वेन) विद्यते।

बीजम्- अशोच्यानन्वशोचत्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।।
कीलकम्- अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

श्रीमद्भगवद्गीता धृतराष्ट्रसञ्जययोः संवादांशाः विद्यन्ते। उभयोः संवादः महाभारतस्य वक्ता महर्षिवैशम्पायनः तथा श्रोता महाराजजनमेजयः इत्यनयोः सम्बन्धितोस्ति।

उपनिषदां सारभूतोयं ग्रन्थो विद्यते, तदेवम्-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

आकारदृष्ट्या लघ्वपि महान्ति दार्शनिकतथ्यानि प्रतिपादयति अतः पूर्णशास्त्रमिदम्।

एकं शास्त्रं दैवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।

अस्याः महिम्नो विषये प्रथितोयं श्लोकः-

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्रविस्तरै।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिसृता।।

अष्टादशपुराणेषु भागवतपुराणम् अत्यन्तं प्रसिद्धम्। उक्तमपि 'विद्यावतां भागवते परीक्षा। भागवतपुराणे भगवद्गीतायां च नास्ति कश्चन भेदः। भागवतपुराणम् साक्षात् कृष्णमयं हि तत् । तथा भगवद्गीता साक्षात् कृष्णवाणी।

भगवद्गीतायां स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् नारायणेन विशेषशतः द्वितीये अध्ययाये निगदितम्।

अर्जुनः वदति-

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥[1]

यः सर्वान् कामान् त्यजति। आत्मनि तुष्टः भवति सः स्थितप्रज्ञः भवति।

---

[1] श्रीमदभगवद्गीता२/५५

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥[1]

स्थितप्रज्ञ पुरुषः सर्वान् कामान् त्यक्त्वा मनः तस्य आदिरूपेण सह सदा संयोजयति, येन सः आनन्दं प्राप्नोति।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गनीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥[2]

यदा मनुष्यः मनसि विद्यमानान् सर्वान् कामान् जित्वा स्वात्मना तृप्तः तिष्ठति, सः समयः स्थितप्रज्ञः भवति ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ [3]

भागवतपुराणे स्थितप्रज्ञः मनुष्यः परमात्मानः सदैव ध्यानं करोति। सः मनसा वाचा स्तौति। यथा-

अहमेवासमेकोऽग्रे नान्यत् यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥[4]
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्याद् आत्मनो मायां यथाभासो यथा तमः।।

एवं प्रकारेण एकाग्रतां दत्तचित्तो भूत्वा सः ईश्वरं चिन्तयति । मननं कृत्वा ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

---

[1] श्रीमदभगवद्गीता२/५६

[2] श्रीमदभगवद्गीता२/५८

[3] श्रीमदभगवद्गीता२/४८

[4] श्रीमदभागवत पुराण९/३२

भगवद्गीतासन्दर्भानुगुणं सहजकर्मणां त्यागानौचित्यविचारः

देवज्योति-कुण्डुः,
शोधच्छात्रः, वैदिकदर्शनविभागः,
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयः,
वाराणसी, उत्तरप्रदेशः – 221005.
दूरवाणीसंख्या – 9883664625, 7076387877.
वैद्युतिकसंकेतः – debjyotikundu26@gmail.com

उपक्रमः

भारतीयधर्मग्रन्थेषु महाभारतम् अतिप्रसिद्धम्। महाभारतस्य एव अंशविशेषः श्रीमद्भगवद्गीता। अत्र श्रीकृष्णस्य अर्जुनं प्रति उपदेशप्रदानं प्रधानतया दृश्यते। कर्मस्वरूपं मोक्षस्वरूपं च उक्त्वा भगवान् श्रीकृष्णः अर्जुनाय विविधोपदेशपुरःसरं संसारबीजम् उक्तवान्। भाष्यकारः श्रीशङ्कराचार्यः गीताशास्त्रस्य व्याख्यानसमये एतं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं कथयति। अत्र अष्टादशाध्यायैः समस्तानामपि वेदानां सारः वर्णितोऽस्ति। परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य प्राप्तये विविधानि साधनानि शास्त्रेषु उक्तानि। संसारत्यागेन स्वस्वरूपम् अवगम्य ब्रह्मणि लयः आवश्यकः। किन्तु मायायाः आवरणकारणात् साधारणाः स्वस्वरूम् अवगन्तुं न पारयन्ति। धीरपुरुषाः तु मोहं त्यक्त्वा ब्रह्मतत्त्वं ज्ञात्वा अमृतत्वं भजन्ते। कर्मयोगेन देवलोकप्राप्तिः भवति। ज्ञानयोगेन ब्रह्मलोकः प्राप्यते। अतः कर्म कर्मफलं च त्यक्त्वा ब्रह्मविद्याप्राप्तये सदा प्रयत्नः करणीयः। अष्टादशाध्यायेषु मोक्षसन्न्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः अन्यतमः। अत्र आदौ अर्जुनः सन्न्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं ज्ञातुम् इष्टवान्। तस्य प्रश्नस्य उत्तरदानाय विविधैः श्लोकैः भगवान् अर्जुनाय सर्वमपि तत्त्वम् उपदिष्टवान्।

सर्वोऽपि संसारोऽयं क्रियाकारकफललक्षणः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः अविद्यापरिकल्पितः। अतः अविद्याध्यारेपेण जगति सर्वे व्यवहाराः भवन्ति। आवरणकारणाद् एव खलु कस्यचित् वस्तुनः स्वरूपं न ज्ञायते। तादृशम् आवरणम् अत्र अविद्या। अतः अविद्यारूपावरणनिराकरणद्वारा ब्रह्मणः वस्तुतः स्वरूपम् अवगम्यते अभेदश्च प्रतिपाद्यते। अन्यत्रापि श्रुतिस्मृतिषु एतदेव तत्त्वं प्रतिपादितम् अस्ति। वयं सर्वेऽपि चैतन्यस्वरूपाः एव। किन्तु अविद्याध्यारोपकारणात् तत्त्वमिदं नैव ज्ञातुं शक्यते। ब्रह्म तु वस्तुतः अत्यन्तनिर्मलस्वच्छसूक्ष्मस्वभावम्। किञ्च तत् प्रसिद्धमपि। अतः अस्माभिः अविद्याध्यारोपणनिराकरणमात्रं ब्रह्मणि कर्तव्यम्। विवेकिनः तु ब्रह्मणा साकं स्वस्य अभेदम् अवगम्य ब्रह्मणि लीनाः भवन्ति। नैष्कर्म्यसिद्धिं प्राप्तस्य ब्रह्मभाव उपजायते। क्रियमाणं कर्म भगवतः वर्णोचितं वा न वा इत्यपि अष्टादशाध्याये वर्णितम्। एतम् एव विषयं भगवान् श्रीकृष्णः अर्जुनाय उपदिशति "सहजं कर्म कौन्तेय" इत्यादिश्लोकेन। सम्प्रति तस्यैव श्लोकस्य तात्पर्यम् अत्र शाङ्करभाष्यानुसारम् आलोच्यते।

सहजकर्मविषयकः भगवद्गीतासन्दर्भः

तत्र श्लोकः –

"सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥"1 इति।

अस्य सामान्यार्थः तावत् – हे पार्थ! स्वभावतः स्वाभाविकतया प्राप्तं यत् कर्म, तत् पूर्वतः निर्णितम् अस्ति। तद् दोषपूर्णं यदि भवति, तथापि न त्यक्तव्यम्। सर्वाणि कर्माणि दोषेण आवृतानीति। धूमाग्निदृष्टान्तेन भगवान् विषयम् इमं स्पष्टीकृतवान्। भाष्यकारः श्रीशङ्कराचार्यः स्वीये भाष्ये एतद्विषये आगतानां शङ्कानां निराकरणपुरःसरं सिद्धान्तं प्रतिष्ठापितवान्। सहजं सह जन्मना उत्पन्नम् आपतितं वा कर्म सहजं स्वभावजं भवति। तादृशं कर्म दोषयुक्तं चेद् अपि उपादेयम् एव। त्रिगुणात्मकत्वात् कर्ममात्रे एव दोषो भवति। कर्म हि माया। अत एव तस्य दोषत्वम्। आरभ्यन्ते इति आरम्भाः, कर्माणि आरभ्यन्ते। प्रकरणाद् अत्र आरम्भशब्देन कर्म इत्यर्थः ग्राह्यः। यथा सहजेन धूमेन वह्निः आवृतो भवति, तद्वत् सर्वे आरम्भाः, सर्वाणि अपि कर्माणि त्रिगुणात्मकत्वाद् दूषितानि भवन्ति। कर्मणः दोषयुक्तत्वात् स्वधर्माख्यस्य सहजस्य कर्मणः परित्यागेन परधर्मानुष्ठाने अपि दोषाद् नैव मुच्यते। परधर्मो भयावहो भवति। प्रसिद्धश्च न्यायः – "स्वधर्मे निधनं श्रेयः

परधर्मो भयावहः"2 इति। यावत्पर्यन्तं ब्रह्मज्ञानं न भवति, तावत् कर्म न त्यज्यम्, न च कर्मत्यागे समर्थता भवति। अत उक्तम् – "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"3 इति। तस्मात् स्वधर्मोचितकर्मसम्पादनाय एव उपदेशः क्रियते।

पूर्वपक्षिणां शङ्का

तत्र प्रश्नः – कर्म न त्यजेत् इति उपदेशस्य कारणं किम इति। किं तत् कर्म अशेषतः त्यक्तुम् अशक्यम् इति हेतोः न त्यजेत् अथवा सहजस्य स्वभावजस्य कर्मणः त्यागे दोषो भवति इति शङ्का। अनयोः किं मतम् उचितम्। प्रथमं मतं यदि स्वीक्रियते, तर्हि अशेषतः त्यक्तुम् अशक्यम् इति कारणात् न त्याज्यं सहजं कर्म इत्यर्थः स्यात्। एवञ्च कर्मणां त्यागः यः उच्यते, स गौणप्रयोगः। तर्हि अशेषतः त्याग एव नोपपद्यते इति चेद् गुणदोषादिकथनं किमर्थम् इति पुनरपि शङ्का भवति। तत्र उच्यते – नित्यप्रचलितात्मकः पुरुषः कथम् आत्मनः स्वरूपकल्पनं कुर्यात् इति – सांख्यानां क्रिया एव कारकं इतिवत्, अथवा बौद्धानाम् इव? कर्मणः अशेषतः त्यागो न भवति इति अनयोः उभयोरपि मतम्। अत्र तृतीयः पक्षः एवम् आह – आत्मा यदा कार्यं कुर्वाणो वर्तते, तदा सक्रियं वस्तु। यदा कार्यं न करोति, तदा निष्क्रियं वस्तु इति। एतन्मतानुसारं कर्मणः अशेषतः त्यागः भवितम् अर्हति। आत्मनः नित्यप्रचलितत्वादिकं नास्ति इति एतन्मते स्वीक्रियते। अपि च क्रिया एव कारकम् इत्यपि न भवति। अत्र हि व्यवस्थिते द्रव्ये अविद्यमाना क्रिया उत्पद्यते, विद्यमाना क्रिया विनश्यति। शुद्धं द्रव्यं क्रियाशक्तिमद् अवतिष्ठते। एतदेव काणादानां मतम् अस्ति।

अस्मिन् काणादादिपक्षे दोषः उच्यते – **"अयमेव तु दोषो यतः तु अभागवतं मतम् इदम्"**4 इति। तत् च गीतायाम् एव भगवद्वचनेन "नासतो विद्यते भावः"5 इत्यादिना ज्ञायते। काणादमतं तु अनेन न विरुध्यते। असतः भावः सतः च अभावः इति तेषां मतम्। अतः तन्मतं न ग्राह्यम्। तत् पृच्छ्यते – अभागवतत्वे अपि न्याययुक्तत्वाद् अत्र दोषः अस्ति खलु इति। तदा उच्यते – सर्वप्रमाणविरोधाद् इदं तु दोषवद् एव भवति। कथम् – द्व्यणुकादिद्रव्यम् उत्पत्तेः प्राग् द्रव्यम् अत्यन्तमेव असत् तिष्ठति। उत्पन्ने सति किञ्चित् कालं स्थितं भवति। पुनः वस्तुनाशानन्तरम् अत्यन्तम् असत्त्वम् आपद्यते। तदा असद् एव अनन्तरं सद् भवति

इति स्वीकरणीयं भवति। ततः तदेव पुनः असद् भवति। एवम् अभावः भावो भवति, भावश्च अभावो भवति।

तेन जायमानः अभावः उत्पत्तेः प्राक् शशविषाणवद् अलीकं भवति इत्यपि स्वीकरणीयम् आपतति। एवं सर्वथा असद् अलीकम् अपि समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यानि कारणानि अपेक्ष्य जायते। वस्तुतः तु एवं न सम्भवति। अर्थात् अभावः नापि उत्पद्यते, नापि किञ्चन कारणम् अपेक्षते। यतो हि शशविषाणादिषु तथा कारणादीनाम् उत्पत्तेः उपलब्धिः न भवति।

उत्पद्यमानाः घटादयः पदार्थाः भावरूपाः सन्ति, ते अभिव्यक्तिमात्रकारणम् अपेक्ष्य उत्पद्यन्ते इति स्वीकर्तुं शक्यते। किन्तु असतः सद् उत्पद्यते, सतः असद् उत्पद्यते इति उच्यते चेत् प्रमाणप्रमेयव्यवहारः एव न स्यात्। अर्थात् सतः असद्भावे, असतः सद्भावे च सत् सद् एव, असद् असद् एव इत्यादिप्रमाज्ञानं निश्चयो वा न भवति।

यच्च उच्यते – उत्पद्यते इति, तत्र द्व्यणुकादेः द्रव्यस्य स्वकारणसत्तासम्बन्धः उच्यते। अर्थात् उत्पत्तेः प्राक् कार्यद्रव्यम् असद् वर्तते। पश्चात् च स्वकारणव्यापारम् अपेक्ष्य स्वकारणैः परमाणुभिः सत्तया समवायरूपसम्बन्धेन संगठितो भवति। ततश्च कारणेन समवेतं सद् भवति। तत्र उच्यते – कथम् असतः कारणं सद् भवेत्। अपि च केनचिद् असता सह कस्यचित् सम्बन्धः कथं भवेत् इति। यथा वन्ध्यापुत्रस्य सत्ता सम्बन्धः कारणं वा केनचित् कारणेन प्रमाणेन वा कल्पयितुं न शक्यते, तद्वद् एव अत्र असतः सदुत्पत्तिः इत्यादिकल्पनं प्रतिपादयितुं न शक्यते। तत्र पूर्वपक्षिभिः उच्यते – वैशेषिकैः तु अभावस्य सम्बन्धः न कल्प्यते। अपि च द्व्यणुकादिद्रव्याणां स्वकारणेन सह समवायम्बन्धो भवति इति तेषां मतम्। द्व्यणुकादिद्रव्यं सदेव अस्ति।

सिद्धान्तिनां मतप्रतिष्ठापनम्

एवम् आक्षेपे सति सिद्धान्तः उच्यते – "न, सम्बन्धात् प्राक् सत्त्वानुभ्युपगमात्"6 इति। अर्थात् कार्यकारणसम्बन्धात् प्राक् कार्यस्य सत्त्वानभ्युपगमो भवति। वैशेषिकैः अपि कुलालदण्डचक्रादिव्यापारात् प्राग् घटादिकार्याणां सत्ता नाङ्गीक्रियते। अपि च तैः घटादिकार्याणां पृथक् सत्ता

वक्तव्या, न खलु तैः मृदः घटाद्याकारप्राप्तिः इष्यते। पृथग् घटादिकार्यम् एव तेषाम् इष्टं मतम्। एवञ्च पारिशेश्याद् असद् एव सम्बन्धः इष्यते इति सिद्धं भवति।

तत्र पुनः आक्षेपः – ननु असतः अपि समवायलक्षणः न विरुद्ध इति। तत्र उच्यते – नैवम् असतः अपि सम्बन्धादिसम्भवः, वन्ध्यापुत्रादीनाम् असताम् अपि सम्बन्धादीनाम् अदर्शनात्। अभावस्य तुल्यत्वे समानतायां अपि यदि घटादेः प्रागभावस्य स्वकारणेन सह सम्बन्धः उच्यते, तदा तु वन्ध्यापुत्रादेः स्वकारणेन सह सम्बन्धाभावाद् अनयोः अभावयोः विशेषो वक्तव्यः।

तत्रैकस्य अभावः, द्वयोः अभावः, सर्वस्य अभावः, प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावः इति लक्षणतः तु अभावेषु विशेषः दर्शयितुं न शक्यते। एवञ्च विशेषाभावाद् घटस्य प्रागभावः एव कुलालादिभिः घटभावम् आपद्यते सम्बध्यते च। कपालाख्येन् स्वकारणेन सर्वव्यवहारयोग्यः च अपि भवति। परन्तु तस्यैव घटस्य प्रध्वंसाभावे सति, अभावत्वे समानतायाम् अपि सम्बन्धितो न भवति। एवं प्रध्वंसाद्यभावभेदानां क्वचिदपि अवस्थायां व्यवहारयोग्यत्वस्य स्वीकारः, अपि च द्व्यणुकादिद्रव्याख्यस्य उत्पत्त्यादिव्यवहारार्हत्वं प्रागभावस्यैव इत्येतद् असमञ्जसं भवति। यतो हि अत्यन्ताभाव–प्रध्वंसाभावयोः इव प्रागभावस्यापि अभावत्वं वर्तते। तत्र तु कोऽपि विशेषो नास्ति।

तत्र पुनः आक्षेपः – वयं तु प्रागभावस्य भावरूपतां न ब्रूमः इति। तत्र उच्यते – तथा चेद् युष्माभिः भावस्य एव भावापत्तिः इष्यते इति आपातितम्। तर्हि घटस्य घटापत्तिः, पटस्य वा पटापत्तिः इव भवति। परन्तु अत्र एतद् अभावस्य भावापत्तिवत् प्रमाणविरुद्धम्। परिणामिवादिनां मतम् अपि अपूर्वधर्मोत्पत्तिविनाशाङ्गीकरणाद् वैशेषिकपक्षाद् न विशिष्यते। अतः तदपि मतं निराकृतम्। अभिव्यक्तितिरोभावाङ्गीकारेऽपि अभिव्यक्तितिरोभावयोः विद्यमानत्वात् तन्निरूपणे पूर्ववदेव प्रमाणविरोधः। अत एव संस्थानम् उत्पत्यादि इत्येतदपि प्रयुक्तम्। इदमपि मतं खण्डितमेव। एतेषां सर्वेषां मतानां खण्डनान्तरम् इदम् एव सिद्ध्यति – एकम् एव सद्वस्तु सत्यं तत्त्वम् आत्मा अविद्यादिकारणाद् उत्पत्तिविनाशादिधर्मैः नटवद् अनेकधा विकल्प्यते इति। भगवतः श्रीकृष्णस्य "नासतो विद्यते भावः"7 इत्यादिश्लोके इदमेव मतम् उक्तं भवति। सत्प्रत्ययस्य कदापि व्यभिचारो न भवति। इतरेषाम् असताम् एव प्रत्ययानां व्यभिचारः सम्भवति। अतः सदेव एकमात्रं तत्त्वम् अस्ति इति सिध्यति।

तत्र प्रश्नः – कथं तर्हि आत्मनः अविक्रियत्वे अशेषतः कर्मणः त्यागो न उपपद्यते इति। तत्र उच्यते – वस्तुभूताः शरीरेन्द्रियादिभूताः गुणाः, सत्यं वस्तु वा भवतु अविद्याकल्पितं वस्तु वा भवतु, यदा शरीरेन्द्रियादिगताः धर्माः कर्माणि वा वर्तन्ते, तदा ते धर्माः आत्मन्यपि अविद्यया अध्यारोपिताः भवन्ति। अत एव कश्चिद् अविद्वान् क्षणमपि अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं शक्नोति। तदुक्तं भगवता – "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"8 इति। परन्तु विद्वान् विद्यया अविद्यानिवृत्तिपुरःसरं कर्माणि अशेषतः त्यक्तुं शक्नोति। यथा कश्चन तिमिररोगाक्रान्तः पुरुषः स्वकीयया तैमिरिकदृष्ट्या द्विचन्द्रादिदर्शनं करोति। तिमिररोगे अपगते च अध्यारोपितस्य द्विचन्द्रादेः अपगतिः भवति। तद्वद् अत्रापि अविद्यायाम् अपगतायां तत्प्रभावजनितानां कार्याणाम् अपि अपगतिः भवति इति अवगन्तव्यम्।

एवञ्च द्विविधमपि वचनम् उपपन्नं भवति। अर्थात् "सर्वकर्माणि मनसा संनस्य"9 इत्यादि सर्वकर्मपरित्यागवचनं ज्ञानिस्तरे साधु अस्ति। अपि च "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"10, "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"11 इत्यादिषु कर्मोपदेशः, स्वकर्म कर्तव्यम् एव, न त्यक्तव्यम् इत्याकारकः अपि अज्ञानिस्तरे साधु एव। एवं स्तरभेदेन अधिकारिभेदेन च उभयमपि साधु भवति।

उपसंहारः

महाभारतस्य भीष्मपर्वणि वर्णितः अंशः एव श्रीमद्भगवद्गीतारूपेण ज्ञायते। अत्र विशेषतः अर्जुनं प्रति भगवान् श्रीकृष्णः उपदेशं प्रायच्छत्। द्विविधो हि वेदस्य धर्मः उक्तः – प्रवृत्तिलक्षणः निवृत्तिलक्षणश्च। तद्धर्मद्वयम् एव भगवान् श्रीकृष्णः शोकसागरे निमग्नाय अर्जुनाय उपदिदेश। श्रीमद्भगवद्गीतायाः मोक्षसन्न्यासयोगाख्ये अष्टादशाध्याये आदौ सन्न्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं ज्ञातुम् इष्टवान् अर्जुनः। तत्प्रश्नस्य उत्तरप्रदानाय विविधैः श्लोकैः भगवान् अर्जुनाय सर्वम् अपि तत्त्वम् उपदिष्टवान्। संसारस्तु क्रियाकारकफललक्षणः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः अविद्यापरिकल्पितः। अतः एतादृशसंसारबन्धनाशेन मोक्षाय प्रयत्नः करणीयः। अत एव आदौ संसारस्वरूपविषये भगवान् सम्यग् वर्णयति। तस्मात् ततः मोक्षोपायो वर्ण्यते।

नैष्कर्म्यसिद्धिं प्राप्तस्य हि आत्मविवेकज्ञानम् उत्पद्यते। तादृशी सिद्धिः केन क्रमेण भवतीति "सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म"12 इति श्लोकेन उपदेशं प्रदत्तवान् भगवान् श्रीकृष्णः। अस्य श्लोकस्य उपरि भगवान् भाष्यकारः श्रीशङ्कराचार्यः सम्यग् व्याख्यानं कृतवान्। ज्ञानात्मनोः निराकरणं निराकारत्वं च प्रतिपादितम् अत्र। यथा आत्मा निराकारो भवति, तथा बुद्धिः अपि भवति। अविद्याध्यारोपकारणाद् आत्मा बुद्धिश्च सम्यक् न ज्ञायते। आत्मा यथा स्वच्छो भवति, तथा बुद्धिः अपि स्वच्छा एव। ततो भाष्यकारेण अन्यमतावलम्बिनां मतानि निराकृतानि। अविद्याध्यारोपणनिराकरणमात्रं ब्रह्मणि कर्तव्यं न तु ब्रह्मज्ञाने यत्नः अत्यन्तप्रसिद्धत्वात्। अविद्याकल्पितेन नामरूपभेदेन अविवेकिनां बुद्धिः अपहृता भवति इत्यतः ते आत्मानम् अन्यथा जानन्ति। तद्विपरीतानां विवेकिनां तु लौकिकग्राह्यग्राहकभेदयुक्तवस्तुषु सद्भावसम्पादनम् अत्यन्तं कठिनम्, अतः तेषाम् आत्मचैतन्यव्यतिरेकेण वस्त्वन्तरोपलब्धिः न जायते। तस्माद् बाह्याकारभेदबुद्धिनिवृत्तिः एव आत्मस्वरूपालम्बनो कारणं भवति। तस्माद् ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किन्तु अनात्मबुद्धिनिवृत्तौ एव। किञ्च क्रियमाणं कर्म भगवतः वर्णोचितं वा न वा इत्यपि अत्र "सहजं कर्म कौन्तेय" इत्यादिश्लोकेन वर्णितम्। तदेव अत्र भाष्यदिशा वर्णित इति शम्।

सन्दर्भाः

1. श्रीमद्भगवद्गीता (18.48)
2. श्रीमद्भगवद्गीता (3.35)
3. श्रीमद्भगवद्गीता (3.5)
4. शाङ्करभाष्यम् (गीता 18.48)
5. श्रीमद्भगवद्गीता (2.16)
6. शाङ्करभाष्यम् (गीता 18.48)
7. श्रीमद्भगवद्गीता (2.16)
8. श्रीमद्भगवद्गीता (3.5)
9. श्रीमद्भगवद्गीता (5.13)
10. श्रीमद्भगवद्गीता (18.45)

11.श्रीमद्भगवद्गीता (18.45)

12.श्रीमद्भगवद्गीता (18.50)

आश्रितग्रन्थतालिका

1. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य हिन्दी-अनुवादसहित)। गीताप्रेस। गोरखपुर।

2. रामसुखदास, स्वामी। गीता-दर्पण। गीताप्रेस। गोरखपुर।

3. गोयन्दका, जयदयाल (सम्पादक)। श्रीमद्भगवद्गीता (पदच्छेद, अन्वय और साधारण भाष्यटीका सहित)। गीताप्रेस। गोरखपुर।

4. वासुदेवानन्दः, स्वामी (व्याख्याकारः, अनुवादकः)। श्रीमद्भगवद्गीता। उद्बोधन-कार्यालयः। कोलकाता। नवम्बर 2022 (षोडशतमं पुनर्मुद्रणम्)।

5. Advaita Sharada
(https://advaitasharada.sringeri.net/)

श्रीमद्भगवद्गीता में आयुर्वेद विमर्श

डॉ. राम करण लुहार
पूर्व-शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email- luharramkaran19@gmail.com

परिचय – भारतीय ज्ञान परम्परा प्राच्यविद्या योग की चर्चा सिन्धु घाटी सभ्यता में प्राप्त योगमुद्रा के अवशेष और वैदिक संस्कृति के आधार स्तम्भ 'वेदों' से ही प्राप्त होती है । योग हमारे शरीर को स्वस्थ, सुदृढ़ और बलवान बनाने की प्राचीन जीवन पद्धति रही है । श्रीमद्भगवद्गीता में भी योगविद्या का विस्तार से विवेचन किया गया है । नियमित यौगिक अभ्यास द्वारा हमारे मन को एकाग्र एवं शरीर को स्वस्थ और गतिशील बनाये रखने के लिए आयुर्वेद के अनुसार आहारचर्या का नियमित पालन अत्यावश्यक है । इससे प्रत्येक मनुष्य को समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है । आज के प्रगतिशील युग में योग एक सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक जीवन शैली बन गई है । प्राचीन काल से योग का अभ्यास वस्तुतः आध्यात्मिक विकास के लिए होता रहा है । लेकिन आज इस भौतिक युग में सूचना एवं सम्प्रेषण तकनीकी द्वारा वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ पाश्चात्य जीवन शैली के अनुकरण से उत्पन्न सामाजिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी संकट के समाधान के लिए योग शिक्षा को दिनचर्या का हिस्सा बनाकर पालन करने की महती आवश्यकता हो गई है । क्योंकि शरीर के स्वास्थ्य पर हमारे मन का आरोग्य निर्भर है । सृष्टि के रचयिता ने प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण रूप से स्वस्थ रहने की क्षमता प्रदान की है । लेकिन प्रज्ञापराध एवं अव्यवस्थित जीवन शैली के कारण हम रुग्णता को प्राप्त हो रहें हैं । इसके लिए नियमित योगाभ्यास और आयुर्वेद के अनुसार आहारचर्या का पालन कर हम पूर्णरूप से तनाव रहित और नीरोग रह सकते हैं । क्योंकि प्राचीनकाल में हमारे ऋषि-मुनियों और महापुरुषों ने सबसे अधिक जोर अपने स्वास्थ्य पर ही दिया है । जिस तरह आयुर्वेद में पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के मूल में 'आरोग्य' को ही प्रधान माना है । क्योंकि आरोग्य के बिना पुरुषार्थ चतुष्टय तथा त्रिविध एषणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा)

की प्राप्ति संभव नहीं है । अत: चतुर्विध पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक रूप से सर्वतोभावेन स्वस्थ होना अत्यावश्यक है । यथा –

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।[1]

वस्तुत: ऊत्तम स्वास्थ्य और अच्छी समझ मानव जीवन के ईश्वर प्रदत्त दो सर्वोत्तम वरदान है । योग की शिक्षा द्वारा ही जनकल्याण और प्रकृति का संरक्षण और इसके साथ समायोजन संभव है । क्योंकि स्वच्छ प्राकृतिक वातावरण (जल-वायु) से हमारा स्वास्थ्य भी सन्तुलित रहेगा । योगविद्या के दैनिक अभ्यास और आयुर्वेद में वर्णित आहारचर्या के पालन से प्रत्येक मनुष्य शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ, सन्तुलित और दीर्घायु जीवन प्राप्त करने में समर्थ होगा । इसी समग्र स्वास्थ्य और दीर्घायु जीवन की प्राप्ति के लिए वेदों में सौ वर्षों तक जीवित रहने की प्रार्थना की गई है । यथा –

जीवेम शरद: शतम् ।[2]

भगवद्गीता में योग का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि यदि हम परिपक्वता से सांसारिक व्यवहार करने में कुशल होंगे तो हमारा समाज भी व्यवस्थित और सन्तुलित रहेगा एवं जागरूकता से ही समाज में समता और सन्तुलन स्थापित होगा । यथा –

योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।[3]

मनुष्य जीवन की साधना में 'बुद्धि' की साम्यावस्था का नाम ही 'योग' कहा गया है । जो प्रत्येक सांसारिक कर्म को सम्पादित करने की एक उत्कृष्ट पद्धति है, इसमें विभिन्न कर्मों का फल हमारे लिए भवबन्धन का कारण नहीं बनता है । अत: विभिन्न शास्त्रों में सदैव विवेकवान् और प्रज्ञावान् बनने का उपदेश दिया गया है ।

---

[1] चरकसंहिता, सूत्रस्थान – 1/15

[2] यजुर्वेद – 36/24

[3] भगवद्गीता – 2/48

आयुर्वेदशास्त्र – आयुर्वेद वस्तुतः प्राचीन भारतीय चिकित्सा शास्त्र है । यह वस्तुतः हमारे शरीर के त्रिदोषों की साम्यता पर जोर देता है । क्योंकि हमारे शरीर में समदोष रहना ही 'आरोग्य' है । आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति दो शब्दों के मिलने से होती है – आयु एवं वेद । **आयु** का तात्पर्य 'जीवन' तथा **वेद** से 'ज्ञान' अर्थ होता है । इस प्रकार जो शास्त्र हमें आयु की सम्पूर्ण सत्ता का ज्ञान कराता है; उसे 'आयुर्वेद' कहते है । आयुर्वेद की परिभाषा –

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ।।[1]

अर्थात् जिस शास्त्र में हितायु, अहितायु, सुखायु तथा दुःखायु का वर्णन हो, साथ ही आयु के लिये हितकर तथा अहितकर द्रव्य, गुण एवं कर्म का वर्णन किया गया हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं । आयुर्वेद के अनुसार जिस मनुष्य में वात, पित्त और कफ दोष की साम्यावस्था हो वह पूर्ण रूप से स्वस्थ कहलाता है, क्योंकि स्थूल शरीर के समस्त रोग जठराग्नि के मन्द होने से ही उत्पन्न होते हैं, विशेष कर उदर से संबंधित रोग ।

आयुर्वेद का प्रयोजन –

आयुर्वेदशास्त्र का प्रयोजन है स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोग ग्रस्त मनुष्य उपचार कर रोगों को दूर करना । यथा **–प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ।**[2] इसी उद्देश्य से आयुर्वेदशास्त्र तथा स्वस्थवृत्त विज्ञान का विकास किया गया है । इसी को चरक संहिता इसप्रकार प्रमाणित करती है । यथा –

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ।
तदभावे हि भावानां सर्वाभाव :शरीरिणाम् ।।[3]

अर्थात् अन्य समस्त कार्यों को छोड़कर सर्वप्रथम शरीर की रक्षा करनी चाहिए । इस शरीर के अभाव में सभी शरीरधारियों के लिए सभी भावों)सुख-दुःखों (का

---

[1] चरकसंहिता, सूत्रस्थान – 1/41

[2] वही – 30/26

[3] चरकसंहिता, निदानस्थान – 6/7

अभाव हो जाता है । मानव-जीवन में नीरोग देह और स्वस्थ मन) सत्त्व(प्राप्त करने के लिए ही आयुर्वेद जैसे जीवन उपयोगी शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है । आयुर्वेद हमारे शरीर के आन्तरिक मलों को दूर करके त्रिदोष सन्तुलन स्थापित करता है और हम दीर्घायु को प्राप्त होते हैं ।

भगवद्गीता में आयुर्वेद की अवधारणा -

आयुर्वेद के अनुसार सात्विक आहार ग्रहण करने से हमारे मन की सकारात्मकता में वृद्धि होती है । हमारे शरीर की प्रकृति के अनुसार युक्त एवं सन्तुलित आहार सदैव शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रखने में मदद करता है । इसके लिए भगवद्गीता में कहा है -

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।[1]

भावार्थ – जो मनुष्य अपने दैनिक कार्यों के अनुरूप यथोचित एवं सन्तुलित आहार का सेवन करता है तथा समय पर सोने और जागने वाला साधक ही 'योग' को सिद्ध करता है और समस्त प्रकार के दुःखों का नाश कर पूर्णत स्वस्थ रहता है । क्योंकि नियमित आहार-विहार से हमारे शरीर का पोषण होता है । इसप्रकार समय पर कार्य सम्पादित करने से मनुष्य मानसिक तनावरहित रहता है और ऋतुचर्या अनुसार आहार, निद्रा और जागरण से वह सदैव शारीरिक एवं मानसिक आरोग्य लाभ को प्राप्त करता है । आहार का हमारे मन, बुद्धि और मस्तिष्क से सीधा सम्बन्ध है । इस मन से समस्त सांसारिक व्यवहार सम्पादित किया जाता है । अत: हमें सदैव सात्त्विक आहार का सेवन करना चाहिए, इससे मन में सकारात्मक विचार उत्पन्न होंगे । इसी के सन्दर्भ में एक लोकोक्ति है – **जैसा खाओगे अन्न, वैसा होगा मन** । सात्त्विक आहार से सकारात्मकता में वृद्धि होकर हमारे मन की एकाग्रता में वृद्धि होती है तथा हमारा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य भी सन्तुलित बना रहता है । यथा –

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।।[2]

---

[1] भगवद्गीता – 6/17

[2] छान्दोग्योपनिषद् – 7/26/2

आयुर्वेद में अन्न की अपेक्षा जल का महत्व अधिक बतलाया गया है । क्योंकि अन्न की उत्पति जल से ही होती है, जल, अन्न का कारण है । अन्न भोजन पदार्थों में जीविका यापन करने वाले पदार्थों में श्रेष्ठ है तथा जल तृप्ति करने वाले पदार्थों में श्रेष्ठ है । यथा – **अन्नं वृत्तिकराणाम् श्रेष्ठम्, उदाकमाश्वास कराणाम् ।**[1] इसप्रकार सन्तुलित आहार सदैव हमारे शरीर का धारक एवं पोषक होता है । आहार के अन्तर्गत प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज लवण, विटामिन्स एवं जल का निर्धारित और सन्तुलित मात्रा में उपयोग करना आवश्यक है । आहार सदैव शरीर के समस्त धातुओं का पोषण करने वाला मनोनुकूल लगने वाला ही ग्रहण करना चाहिए । यथा -

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ।।[2]

सदैव सुपाच्य, स्वादिष्ट और पौष्टिक आहार का ही सेवन करना चाहिए । पौष्टिक एवं सन्तुलित आहार ग्रहण करने से हमारे शरीर में त्रिदोषों की साम्यावस्था भी बनी रहेगी इससे हम शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ रहेंगे ।

भगवद्गीता में आहार विवेचन – आहार शब्द की व्युत्पत्ति आ उपसर्गपूर्वक 'हृञ् हरणे' धातु में घञ् के संयोग से होती है । अर्थात् आह्रियते पोषणार्थम् इति आहार: । आहार हमारे शरीर में बल, वर्ण और औज की वृद्धि करता है । अन्न के बिना प्राणों की भी कल्पना भी नहीं की जा सकती है । अन्न हमारा भोजन है और भोजन सम्पूर्ण प्राणियों की आधारभूत आवश्यकता है । अत: प्रतिदिन मनुष्य भोजन ग्रहण करता है, वह आहार प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार का होता है ।

---

[1] चरक संहिता, सूत्र स्थान - 25/40

[2] हठप्रदीपिका – 1/63

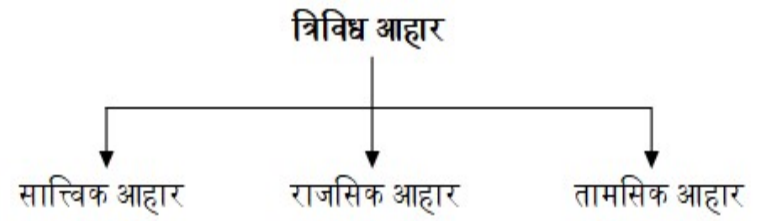

सात्विक आहार– सात्विक आहार सदैव आयु को बढ़ाने वाला तथा शारीरिक बल, स्वास्थ्य, सुख और मन को तृप्ति प्रदान करने वाला होता है । ऐसा भोजन रसमय, स्निग्ध, स्वास्थ्यप्रद तथा हृदय को भाने वाला होता है । विविध शास्त्रों में सात्विक आहार का महत्व बतलाया गया है ।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।[1]

राजसिक आहार– यह आहार अत्यधिक तिक्त, खट्टे, नमकीन, गरम, चटपटे, शुष्क तथा शरीर में जलन उत्पन्न करने वाले होते हैं; जो रजोगुणी व्यक्तियों को प्रिय होता है । ऐसा आहार दुःख, शोक तथा विविध शारीरिक एवं मानसिक रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।[2]

तामसिक आहार– ऐसा आहार जो खाने से तीन घंटे पूर्व निर्मित किया गया हो, स्वाद रहित, वियोजित एवं सड़ा, जूठा तथा अस्पृश्य वस्तुओं से युक्त हो । यह आहार उन लोगों को प्रिय होता है, जो तामसी प्रवृत्ति के होते हैं ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।[3]

वस्तुतः आहार का उद्देश्य मस्तिष्क को परिशुद्ध करना, शरीर को शक्ति पहुँचाना और आयु वर्धन करना है । ऐसा भोजन जो शास्त्रीय विधि से निर्मित और

---

[1] भगवद्गीता – 17/8
[2] वही – 17/9
[3] वही – 17/10

भगवान् को अर्पित करके सेवन किया जाता है, वह दिव्य होता है । अतएव भोजन को रोगाणुरोधक, खाद्य तथा समस्त मनुष्यों के लिए रूचिकर बनाने के लिए सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित करना चाहिए । इसप्रकार जीवन साधना में स्वस्थ रहकर सफलता के लिए प्रत्येक मनुष्य को सदैव आहार-विहार संबंधी नियमावली का भली-भांति पालन करना चाहिए ।

निष्कर्ष –

प्रत्येक मनुष्य के जीवन का मूल उद्देश्य लोक कल्याण के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना है । प्राचीन काल में हमारे ऋषि-मुनि भी स्वयं स्वस्थ जीवन शैली को अपनाकर जनसामान्य को भी योगाभ्यास द्वारा स्वस्थ रहने की प्रेरणा देते थे । यौगिक जीवन के साथ में आयुर्वेद में वर्णित आहारचर्या को अपनाकर सभी मनुष्य स्वस्थ और दीर्घायु को प्राप्त होते थे । लेकिन आधुनिक अव्यवस्थित जीवनशैली, खानपान में असंतुलन, पर्याप्त नींद का अभाव और शारीरिक श्रम की कमी के कारण अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोग उत्पन्न हो रहें हैं । ऐसे में शरीर को स्वस्थ, सक्रिय और निरोग बनाये रखने के लिए शुद्ध, सात्विक एवं पौष्टिक आहार का सन्तुलित मात्रा में सेवन के साथ-साथ नियमित योगाभ्यास करना बहुत आवश्यक हो गया है । अत: सन्तुलित आहार और यौगिक जीवनचर्या को अपनाकर सभी लोग निरोग रह सकते हैं ।

❑❑❑

वैश्विक-संस्कृत-मञ्च

Global Sanskrit Forum

Plot no. 3-B, Khasra no. 611, Gali no. 1, B-Block,
Saraswati Avenue, Sabhapur Extn., Shahdara, Delhi-110094
Contact : 8789507760
Email : globalsanskritforum@gmail.com
Webiste : https://globalsanskritforum.org

अमृतब्रह्म प्रकाशन
63/59, मोरी, दारागंज,
प्रयागराज-211006 (उ.प्र.)
Mobile : +91-9450407739, 8840451764
Email : amritbrahmaprakashan@gmail.com

Rs. 900/-

ISBN 819824530-8